आत्मा और परमात्मा का
मिलन संयोग

आत्मा और परमात्मा का मिलन संयोग

✪

लेखक
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

✪

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : ३१.०० रुपये

विषय-सूची

आत्मा और परमात्मा का मिलन संयोग

सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और उसका सान्निध्य

प्रत्येक कर्म का कोई अधिष्ठाता जरूर होता है। परिवार के वयोवृद्ध मुखिया के हाथ सारी गृहस्थी का नियन्त्रण होता है, मिलों-कारखानों की देखरेख के लिए मैनेजर होते हैं, राज्यपाल-प्रान्त के शासन की बागडोर सँभालते हैं, राष्ट्रपति सम्पूर्ण राष्ट्र का स्वामी होता है। जिसके हाथ में जैसी विधि-व्यवस्था होती है उसी के अनुरूप उसे अधिकार भी मिले होते हैं। अपराधियों की दण्ड व्यवस्था, सम्पूर्ण प्रजा के पालन-पोषण और न्याय के लिये उन्हें उसी अनुपात से वैधानिक या सैद्धान्तिक अधिकार प्राप्त होते हैं। अधिकार न दिये जायें तो लोग स्वेच्छाचारिता, छल-कपट और निर्दयता का व्यवहार करने लगें। न्याय व्यवस्था के लिये शक्ति और सत्तावान होना उपयोगी ही नहीं आवश्यक भी है।

इतना बड़ा संसार एक निश्चित व्यवस्था पर ठीक-ठिकाने चल रहा है, सूरज प्रतिदिन ठीक समय से निकल आता है, चन्द्रमा की क्या औकात जो अपनी माहवारी ड्यूटी में रत्ती भर फर्क डाल दे, ऋतुयें अपना समय आते ही आती और लौट जाती हैं, आम का बौर बसन्त में ही आता है, टेसू गर्मी में ही फूलते हैं, वर्षा तभी होती है जब समुद्र से मानसून बनता है। सारी प्रकृति, सम्पूर्ण संसार ठीक व्यवस्था से चल रहा है, जो जरा सा इधर उधर हुआ कि उसने मार खाई। अपनी कक्षा से जरा डाँवाडोल हुये कि एक तारे को दूसरा खा गया। जीवन-क्रम में थोड़ी भूल हुई कि रोग-शोक, बीमारी और अकाल-मृत्यु ने झपट्टा मारा। इतने बड़े संसार का नियामक परमात्मा सचमुच बड़ा शक्तिशाली है। सत्तावान न होता तो कौन उसकी बात

सुनता। दण्ड देने में उसने चूक की होती तो अनियमितता, अस्त-व्यस्तता और अव्यवस्था ही रही होती। उसकी दृष्टि से कोई भी छुपकर पाप और अत्याचार नहीं कर सकता। बड़ा कठोर है वह, दुष्ट को कभी क्षमा नहीं करता। इसलिये वेद ने आग्रह किया है-

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहु कस्मैदेवाय हविषा विधेम॥

ऋ० वेद १०/१२१/४

हे मनुष्यो! बर्फ से आच्छादित पहाड़, नदियाँ, समुद्र जिसकी महिमा का गुणगान करते हैं। दिशायें जिसकी भुजायें हैं हम उस विराट् विश्व पुरुष परमात्मा को कभी न भूलें।

गीता के "येन सर्वमिदं ततम्" अर्थात् "यह जो कुछ है परमात्मा से व्याप्त है" की विशद व्याख्या करते हुये योगीराज अरविन्द ने लिखा है-

"यह सम्पूर्ण संसार परमात्मा की ही सावरण अभिव्यंजना है। जीव की पूर्णता या मुक्ति और कुछ नहीं भगवान् के साथ चेतना, ज्ञान, इच्छा, प्रेम और आध्यात्मिक सुख में एकता प्राप्त करना तथा भागवती शक्ति के कार्य सम्पादन में अज्ञान, पाप आदि से मुक्त होकर सहयोग देना है। यह स्थिति उसे तब तक प्राप्त नहीं होती जब तक आत्मा अहङ्कार के पिंजरे में कैद है, अज्ञान में आवृत्त है तथा उसे आध्यात्मिक शक्तियों की सत्यता पर विश्वास नहीं होता। अहङ्कार का जाल, मन, शरीर, जीवन, भाव, इच्छा, विचार, सुख और दुःख के संघर्ष, पाप, पुण्य, अपना पराया आदि के जटिल प्रपंच मनुष्य में स्थित एक उच्चतर आध्यात्मिक शक्ति के बाह्य और अपूर्ण रूपमात्र हैं। महत्ता इसी शक्ति की है, मनुष्य की नहीं, जो प्रच्छन्न रूप से आत्मा में अधिगत है।"

योगीराज के इस निबन्ध से तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त व्यक्त होते हैं। (१) यह जो संसार है परमात्मा से व्याप्त है उसके अतिरिक्त और सब मिथ्या है माया है, भ्रम है, स्वप्न है। (२) मनुष्य

को उसकी इच्छानुसार सृष्टि-संचालन के लिये कार्य करते रहना चाहिये। (३) मनुष्य में जो श्रेष्ठता, शक्ति या सौन्दर्य है वह उसके दैवी गुणों के विकास पर ही है।

मनुष्य जीवन के सुख और उसकी शान्ति के लिये इन तीनों सिद्धान्त का पालन ऐसा ही पुण्य फलदायक है जैसा त्रिवेणी स्नान करना। मनुष्य दुष्कर्म अहंकार से प्रेरित होकर करता है पर वह बड़ा क्षुद्र प्राणी है, जब परमात्मा की मार उस पर पड़ती है तो बेहाल होकर रोता चिल्लाता है। सुख तो उसकी इच्छाओं के अनुकूल सात्विक दिशा में चलने में, प्राकृतिक नियमों के पालन करने में ही है। अपनी क्षणिक शक्ति के घमण्ड में आया हुआ मनुष्य कभी सही मार्ग पर नहीं चलता इसीलिये उसे सांसारिक कष्ट भोगने पड़ते हैं। परमात्मा ने यह व्यवस्था इतनी शानदार बनाई है कि यदि सभी मनुष्य इसका पालन करने लगें तो इस संसार में एक भी प्राणी दु:खी और अभावग्रस्त न रहे।

ईश्वर उपासना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। नदियाँ जब तक समुद्र में नहीं मिल जातीं अस्थिर और बेचैन रहती है। मनुष्य की असीमता भी अपने आपको मनुष्य मान लेने की भावना से ढकी हुई है। उपासना विकास की प्रक्रिया है। संकुचित को सीमा रहित करना, स्वार्थ को छोड़कर परमार्थ की ओर अग्रसर होना, "मैं" और मेरा छुड़ाकर 'हम' और 'हमारे' की आदत डालना ही मनुष्य के आत्म-तत्व की ओर विकास की परम्परा है। यह तभी सम्भव है जब सर्वशक्तिमान परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करलें, उसकी शरणागति की प्राप्ति हो जाय। मनुष्य रहते हुये मानवता की सीमा को भेदकर उसे देवस्वरूप में विकसित कर देना ईश्वर की शक्ति का कार्य है। उपासना का अर्थ परमात्मा से उस शक्ति को प्राप्त करना ही है।

जान-बूझकर या अकारण परमात्मा कभी किसी को दण्ड नहीं देता। प्रकृति की स्वच्छन्द प्रगति प्रवृत्ति में ही सबका हित नियन्त्रित है। जो इस प्राकृतिक नियम से टकराता है वह बार-बार

दुःख भोगता है और तब तक चैन नहीं पाता जब तक वापस लौटकर फिर उस सही मार्ग पर नहीं चलने लगता है। भगवान् भक्त की भावनाओं का फल तो देते हैं किन्तु उनका विधान सभी संसार के लिये एक जैसा ही है। भावनाशील व्यक्ति भी जब तक अपने पाप की सीमायें नहीं पार कर लेता तब तक अटूट विश्वास, दृढ़ निश्चय रखते हुए भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाता। अपने से विमुख प्राणियों को भी वे दुःख दण्ड नहीं देता दुख दण्ड देने की शक्ति तो उसके विधान में ही है। मनुष्य का विधान तो देश, काल और परिस्थितियों वश बदलता भी रहता है। किन्तु उसका विधान सदैव एक जैसा ही है। भावनाशील व्यक्ति भी उसकी चाहे कितनी ही उपासना करे सांसारिक कर्त्तव्यों की अवहेलना कर या दैवी-विधान का उल्लंघन कर कभी सुखी नहीं रह सकते। जैसा कर्मबीज वैसा ही फल-यह उसका निश्चल विधान है। दूसरों का तिरस्कार करने वाला कई गुना तिरस्कार पाता है। परमार्थ उसी तरह लौटकर असंख्य गुने सुख पैदाकर मनुष्य को तृप्त कर देता है। सुख और दुःख, बन्धन और मुक्ति मनुष्य के कर्म के अनुसार ही प्राप्त होते हैं। दुष्कर्मों का फल भोगने से मनुष्य बच नहीं सकता इस विधान में कहीं राई रत्ती भर भी गुञ्जाइश नहीं है।

अशुभ कर्मों का सम्पादन और देह का जड़ अभिमान ही मनुष्य को छोटा बनाये हुये है। शुभ-अशुभ कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख का भोक्ता न होने पर भी आत्मा मोह वश होकर दुःख भोगती है। मैं देह हूँ "मुझे सारे अधिकार मिलने ही चाहिये" यह मान लेने से जीव स्वयं कर्त्ता-भोक्ता बन जाता है और इसी कारण वह "जीव" कहलाता है। जब तक वह इतनी-सी सीमा में रहता है तब तक उसकी शक्ति भी उतनी ही तुच्छ और संकुचित बनी रहती है। जब वह इस भ्रम रूप देहाध्यास का परित्याग कर देता है तो वह शिव-स्वरूप, ईश्वर-स्वरूप हो जाता है। उसकी शक्तियाँ विस्तीर्ण हो जाती हैं और वह अपने आपको अनन्त शक्तिशाली, अनन्त आनन्द में लीन हुआ अनुभव करने लगता है।

अपनी तुच्छ सत्ता को परमात्मा की शरणागति में ले जाने से मनुष्य अनेकों कष्ट-कठिनाइयों से बच जाता है। गृहपति की अवज्ञा करके जिस तरह घर का कोई भी सदस्य सुखी नहीं रह सकता उसी प्रकार परमात्मा का विरोधी भी कभी सुखी या सन्तुष्ट नहीं रह सकता। परमात्मा की अवमानना का अर्थ है उसके सार्वभौमिक नियमों का पालन न करना। अपने स्वार्थ, अपनी तृष्णा की पूर्ति के लिये कोई भी अनुचित कार्य परमात्मा को प्रिय नहीं । इस तरह की क्षुद्र बुद्धि का व्यक्ति ही उसके कोप का भाजन बनता है पर जो विश्व-कल्याण की कामना में ही अपना कल्याण मानते और तदनुसार आचरण करते हैं। ईश्वर के अनुदान उन्हें उसी तरह प्राप्त होते हैं जैसे कोई पिता अपने सदाचारी, आज्ञा पालक और सेवा भावी पुत्र को ही अपनी सुख-सुविधाओं का अधिकांश भाग सौंपता है।

पापों का नाश हुये बिना, इन्द्रियों का दमन किये बिना, अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती। संसार में रहते हुये मनुष्य कर्मों से भी छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता। अतः निष्काम कर्मयोग परमात्मा की प्राप्ति और सांसारिक सुखोपभोग का सबसे सुन्दर और समन्वययुक्त धर्म है। निष्काम भावनाओं में पाप नहीं होता वरन् दूसरों के हित की, कल्याण की और सबको ऊँचे उठाने की विशालता होती है जिससे अन्तःकरण की पवित्रता बढ़ती है और सुख मिलता है अतएव प्रत्येक मनुष्य को संसार समर का योद्धा बनकर ही जीवनयापन करना चाहिये। वह साहस वह गम्भीरता और वह कार्य करने की भावना मनुष्य ब्रह्म ज्ञान और ब्रह्म सान्निध्यता में ही प्राप्त करता है।

ईश्वर का ज्ञान हो जाने पर सांसारिक संयोग वियोग से उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख मनुष्य को बन्धन में नहीं बाँध पाते। यह कल्पित संसार जीव की अपनी कल्पना के सिवा और कुछ नहीं है। इससे घट-बढ़ हुआ ही करता है और इसमें जीव की ममता होने के कारण इसमें बढ़ती होने पर वह प्रसन्न होता है और कमी होने पर दुःखी होता है। उदाहरण के लिए-जब परिवार में कोई बच्चा पैदा

होता है तो लोग खुशी मनाते हैं। पर इससे परमात्मा की सृष्टि में कोई कमी नहीं आई। जीव तो अमर है जैसे पहले था, वैसे ही अब भी है, केवल पंच भौतिक तत्वों का एक शरीर के रूप में संयोग हुआ। इसी प्रकार कोई मर जाता है तो दु:ख मानते हैं पर पहली स्थिति की तरह इस बार भी परमात्मा की सृष्टि में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई। पंच भौतिक शरीर का वियोग मात्र हुआ जीव तो अपने मूल-रूप में अब भी विद्यमान है। इस गूढ़ रहस्य को न जानने के कारण ही मनुष्य सांसारिक बन्धनों में बँधकर तरह-तरह के दु:ख भोगता है। अत: कल्याणकामी पुरुष के लिये बादल के समान क्षण-क्षण रङ्ग बदलने वाले विनाशशील व्यावहारिक जगत में मोह का सम्बन्ध न बाँधकर अविनाशी और अचल परम सत्ता में चित्त को जोड़ देने और लोक-कल्याण के लिये निष्काम कर्म करने में ही इस जीवन की सार्थकता है।

सद्-प्रेरणायें प्रत्येक मनुष्य के अन्त:करण में छिपी रहती हैं। दुष्प्रवृत्तियाँ भी उसी के अन्दर होती हैं। अब यह उसकी अपनी योग्यता, बुद्धिमत्ता और विवेक पर निर्भर है कि वह अपना मत देकर जिसे चाहे उसे विजयी बना दे। चित्त का मूल स्वभाव शान्त है, आत्मा आनन्दमय है जो इस अपनी मूल प्रवृत्ति को डिगाता नहीं अर्थात् सद्प्रेरणाओं में स्थिर रहता है, जगत में वही योद्धा अजेय है जिसका स्वभाव किसी भी प्राणी पदार्थ के स्वभाव से अपने शान्त स्थिर चित्त के स्वभाव को चलायमान नहीं होने देता। जगत के प्राणी और पदार्थों में इन्द्रियों के द्वारा जिसके चित्त में क्षोभ उत्पन्न होता है वह निर्बल है। उसे अपनी निर्बलता का दण्ड भी भोगना ही पड़ता है। सुख का उपभोग तो यहाँ शक्तिमान शूरमा ही करते हैं।

परमात्मा जितना कृपालु है कठोर भी उससे कम नहीं है। उसकी एक शिव शक्ति भी है जो निरन्तर ध्वंस किया करती है। ईश्वर की आज्ञाओं की जो जान बूझकर अवज्ञा करता है उसे परमात्मा की कठोरता का दण्ड भुगतना ही पड़ता है। संसार की व्यवस्था, गृह समाज, राज्य या राष्ट्र से भी सर्वोपरि है। अत: गृहपति, राज्यपाल या

राष्ट्रपति की तुलना में उसके पास शक्तियाँ भी अतुल होती हैं। विश्व नियम का प्रजा में पालन कराने वाला परमात्मा बहुत बड़ा है, बड़ा कठोर, बड़ा शक्तिशाली है। गीता में भगवान कृष्ण ने स्वयं कहा है- मैं लोगों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय इन लोगों को नष्ट करने के लिये प्रवृत्त हुआ हूँ, इसलिये हे अर्जुन! जो यह प्रतिपक्षी सेना है वह तेरे न मारने पर भी जीवित नहीं बचेंगे। बिना युद्ध के भी इसका नाश हो जायेगा।" —गीता ११/१३

वह परमात्मा सचमुच बड़ा शक्तिशाली, बड़ा बलवान् है। उसकी अवज्ञा करके कोई बच नहीं सकता। अतः उसी के होकर रहें, उसी की आज्ञाओं का पालन करें, इसी में मनुष्य मात्र का कल्याण है।

मनुष्य महान् है और उससे भी महान् उसका भगवान्

सच कहा जाय तो इस संसार में दो वस्तु बड़ी अद्‌भुत और महत्व-पूर्ण हैं। एक हमारा परमेश्वर और एक हम स्वयं। इन दो से बढ़कर और कुछ आश्चर्यजनक और सामर्थ्य सम्पन्न तत्व इस दुनिया में हमारे लिये हो ही नहीं सकते। यदि अपनी महिमा और क्षमता को समझ लिया जाय और उसका बुद्धिमत्ता एवं व्यवस्था के साथ उपयोग किया जाय तो उसका परिणाम इतना बड़ा हो सकता है कि संसार के साथ ही हम स्वयं उसे देखकर दंग रह जायँ। मनुष्य देखने में जितना तुच्छ और हेय लगता है वस्तुतः वैसा है नहीं। उसकी सम्भावनाएँ अनन्त हैं। गड़बड़ इतनी भर पड़ जाती है कि वह अपने स्वरूप को समझ नहीं पाता और जितना कुछ समझा है उसका सदुपयोग करने के लिये जो प्रचलित ढर्रा बदलना चाहिए उसके लिये मनोबल और भावनात्मक साहस एकत्रित नहीं कर पाता। यदि

इस छोटी सी त्रुटि को सँभाल सुधार लिया जाय तो उसके अद्भुत विकास की सारी सम्भावनायें खुल जाती हैं । जिस भी दिशा में उसे बढ़ना हो-उस पथ के समस्त अवरोध स्वयमेव हट जाते हैं।

देवताओं की चर्चा कही सुनी बहुत जाती है पर किसी ने उन्हें देखा नहीं है। यदि देव दर्शन करने हों तो अपने परिष्कृत स्वरूप में अपने आप का दर्शन करना चाहिये। इस छोटे से कलेवर में समस्त देव शक्तियाँ एक ही स्थान पर केन्द्रीभूत मिल सकती हैं। स्थूल और कारण शरीरों में भूः भुवः स्वः पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग तीनों लोक सन्निहित हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की तीनों शक्तियाँ इसी में भरी पड़ी हैं। दसों इन्द्रियों में दस दिग्पाल बसते हैं। मनुष्य जीवन एक समुद्र है जिसके आस पास शेष सर्प, सुमेरु पर्वत, देव, असुर और कच्छप भगवान चिरकाल से विराजमान हैं और यह प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कोई आत्मबल का धनी उनका सदुपयोग करे और इस समुद्र में से रत्न निकाले। समुद्र मंथन की पौराणिक कथा पुरानी हो गई। इस कथानक की पुनरावृत्ति हममें से कोई भी कर सकता है यदि जीवन संघर्ष और जीवन के सदुपयोग की विधि व्यवस्था और पद्धति समझ में आ जाय। समुद्र मंथन से १४ रत्न निकले थे हमारे लिये सिद्धियाँ और विभूतियाँ १४०० उपहार लेकर सामने प्रस्तुत हो सकती है। सचमुच हम स्वयं एक आश्चर्य हैं काश, हमने अपने को समझ पाया होता और उसका श्रेष्ठतम उपयोग क्या हो सकता है इसका विनियोग समझ पाया होता तो इन परिस्थितियों में कदापि न पड़े होते जिनमें आज पड़े हुए हैं।

अपने आपे से भी बड़ा आश्चर्य है अपना भगवान। उसके एक विनोद कल्लोल भर का प्रयोजन पूरा करने के लिये यह इतना बड़ा विश्व बनकर खड़ा हो गया है जिसकी विशालता की कल्पना तक कर सकना कठिन है। वह अकेला था, उसकी इच्छा अपना विस्तार देखने की-अपने आप में रमण करने की हुई सो इस इच्छा मात्र ने इतने विशाल विश्व का सृजन खड़ा कर दिया। यह तो उसकी

इच्छा का चमत्कार हुआ। उसकी सामर्थ्य और क्रिया का परिचय तो प्राप्त करना अभी शेष ही रह गया। मनुष्य मुद्दतों से प्रकृति के रहस्य जानने और उसकी ईथर, विद्युत, आणविक आदि शक्तियों के उपयोग का मर्म समझने के लिये चिरकाल से प्रयत्न कर रहा है। इस पुरुषार्थ से उसे कुछ मिला भी है। उसका परिणाम इतना ही है कि छोटा बच्चा इस गुब्बारे को पाकर उछल-कूद ही सके। पर प्रकृति के जितने रहस्य अभी जानने को शेष हैं उसकी तुलना में प्राप्त उपलब्धियाँ उतनी ही कम हैं जितनी कि पर्वत की तुलना में धूलि का एक कण। भगवान की अगणित कृतियों से अति तुच्छ सी कृति अपनी धरती का वैभव इतना विशाल है कि मनुष्य की तृष्णा इच्छा और कल्पना से असंख्य गुना वैभव उसमें भरा पड़ा है। फिर समस्त ब्रह्मांडों से मिलकर बने हुये इस महान सृजन से भरी विभूतियों की बात सोची ही कैसे जाय?

इतने विशाल वैभव से भरे हुए विश्व को एक विनोद उल्लास की तरह बनाने और चलाने वाला परमेश्वर यदि समग्र रूप से मनुष्य की कल्पना में आ सका होता तो कितना सुखद होता। पर कहाँ मनुष्य कहाँ उसकी कल्पना इनकी तुच्छता और भगवान की विशालता की आपस में कोई संगति नहीं बैठती। उसका समग्र स्वरूप तो सत्‌चित आनन्द से-सत्यं शिवं सुन्दरम् से इतना ओत-प्रोत है कि उसकी एक बूँद पाकर भी मनुष्य कृतकृत्य हो सकता है।

निस्सन्देह हमारा आपा महान् है। और निश्चय ही हमारा परमेश्वर अत्यन्त ही महान है। इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरा आश्चर्य और शेष रह जाता है वह है इन दोनों के मिलन से उत्पन्न होने वाली वह धारा जिसमें सन्तोष और शान्ति की-आनन्द और उल्लास की-सुख और साधनों की असीम तरंगें निरन्तर उद्‌भूत होती रहती हैं। यों जब भी दो श्रेष्ठताएँ मिलती हैं तब उनके सुखद परिणाम ही होते हैं। ऋण और धन विद्युत् धाराएँ मिलकर रोमांचकारी शक्ति प्रवाह में परिणत हो जाती हैं और उनके द्वारा अनोखे काम सम्पन्न

होते हैं। स्त्री और पुरुष का मिलन न केवल हृदय की-कली को खिला देता है वरन् एक नये परिवार, नये समाज, का सृजन ही आरम्भ कर देता है। आत्मा और परमात्मा का मिलन कितना सुखद कितना सक्षम और कितना अद्‌भुत हो सकता है, इसकी कल्पना भी कर सकना यदि हमारे लिये सम्भव रहा होता तो तृष्णा वासना की जिस फूहड़ परितृप्ति के लिये मृग मरीचिका में भटकते फिर रहे हैं उसे छोड़कर अपनी गतिविधियाँ इस दिशा में बदलते जिसमें उस परम मिलन से उत्पन्न होने वाली अजस्र शान्ति और शक्ति की सम्भावना प्रत्यक्ष प्रस्तुत है।

आत्मा और परमात्मा की दो परम सत्ताओं के परस्पर मिलन के प्रयत्न को ही योग कहते हैं। योग शब्द का अर्थ ही जोड़ना या मिलन है। किसका जोड़—किससे जोड़— इसका एक ही उत्तर है आत्मा से परमात्मा का मिलन। यह प्रक्रिया सम्पन्न की जा सके तो उसके परिणाम और फलितार्थ भी उतने ही अद्‌भुत हो सकते हैं जितने कि ये दोनों तत्व स्वयं में अद्‌भुत हैं। बूँद समुद्र में मिल जाय तो वह खोती कुछ नहीं अपनी व्यापकता बढ़ा कर स्वयं समुद्र बन जाती है। पानी दूध में मिलकर कुछ खोता नहीं, अपना मूल्य ही बढ़ा लेता है। लोहा पारस को छूकर घाटे में थोड़े ही रहता है। यह स्पर्श उसके सम्मान की वृद्धि ही करता है। आत्मा और परमात्मा का मिलन निस्सन्देह आत्मा के लिये बहुत ही श्रेयस्कर है पर इसके योगदान से परमात्मा भी कम प्रसन्न नहीं होता, इस व्यक्त विश्व में उसकी-अव्यक्त सत्ता रहस्यमय ही बनी रहती है, जो हो रहा है वह पर्दे के पीछे अदृश्य ही तो है। उसे मूर्तिमान दृश्य बनाने के लिए ही तो यह विश्व सृजा गया था। जड़ पदार्थों से वह प्रयोजन पूरा कहाँ होता है। चैतन्य जीवधारी के बिना इस धरती का समस्त वैभव सूना अनजाना ही पड़ा रहेगा। पदार्थों का मूल्य तभी है जब उनका उपयोग सम्भव हो। और उपयोग चेतन आत्मा ही कर सकती है। इस विश्व में जो चेतन समाया हुआ है उसका प्रतीक प्रतिनिधि मनुष्य है।

मनुष्य के सहयोग के बिना परमात्मा का वह प्रयोजन पूरा नहीं होता जिसके निमित्त इस सृष्टि को सृजा गया था, परमेश्वर अकेला था उसने बहुत होने की इच्छा की। बहुत बने तो जरूर पर यदि उसके अनुरूप, उस जैसे न हुए तो उस सृजन का उद्देश्य कहाँ पूरा हुआ? आनन्द तो समान स्तर की उपलब्धि में होता है। बन्दर और सुअर का साथ कहाँ जमेगा। आदमी की शादी कुतिया से कैसे होगी। पानी में लोहा कैसे घुलेगा। बच्चों का खेल बच्चों में और विद्वानों की गोष्ठी विद्वानों में जमती है हलवाई और पहलवान का सङ्ग कब तक चलेगा। कसाई और पंडित की दिशा अलग है। मनुष्यों में ऐसे भी कम नहीं हैं जो परमेश्वर की इच्छा और दिशा से बिलकुल विमुख होकर चलते हैं। असुरता को पसन्द और वरण करने वाले लोगों की कमी कहाँ है? सच पूछा जाय तो माया ने सभी की बुद्धि को तमसाछन्न बनाकर अज्ञानान्धकार में भटका दिया है और वे सुख की तलाश आत्म तत्व में करने की अपेक्षा उन जड़ पदार्थों में करते हैं जहाँ उसके मिलन की कोई सम्भावना नहीं है। मृगतृष्णा में भटकने का दोष बेचारे नासमझ हिरन पर ही लगाया जाता है। वस्तुतः हम सब समझदार कहलाने पर भी नासमझ की भूमिका ही प्रस्तुत कर रहे हैं और आत्मानुभूतियों का द्वार खोलने की अपेक्षा जड़ पदार्थों में सुख पाने की—बालू में तेल निकालने जैसी विडम्बना में उलझ पड़े हैं। जिस उपहासास्पद स्थिति में हमारा चेतन उलझ गया है उसमें न उसे सुख मिलता है न शान्ति ही उलटी शोक-सन्ताप भरी उलझनें ही सामने आकर खिन्नता उत्पन्न करती हैं।

इन परिस्थितियों में उलझे हुए, ईश्वर की अभीप्सित दिशा में चलने और उसके विनोद में सहचर बनने वाले व्यक्ति बनते ही कहाँ हैं? अन्धी भेड़ों की तरह हम सब तो शैतान के बाड़े में जा धँसे। ईश्वर का विनोद प्रयोजन पूरा कहाँ हुआ? उसे साथी सहचर कहाँ मिले? सृष्टि बनी तो सही—जड़ चेतन भी उपजे पर भगवान का खेल जिसमें विनोद और उल्लास का निर्झर निरन्तर झरना चाहिए

था अवरुद्ध और शुष्क ही रह गया। शैतान ने भगवान का खेल ही बिगाड़ दिया। यों यह भी एक खेल है पर वैसा नहीं जैसा कि चाहा गया था। इस व्यवधान को हटा सकने में समर्थ जो आत्माएँ परमात्मा की विनोद मण्डली में सम्मिलित हो जाती हैं वे उसकी प्रसन्नता का कारण भी बनती है। अपने को जो परमेश्वर के समीप ले पहुँचते हैं इस विश्व को अधिक सुन्दर बनाने के भगवत प्रयोजन में साथी बनते हैं निस्सन्देह वे परमात्मा की प्रसन्नता बढ़ाते हैं और उसके इस संसार की गरिमा को प्रखर बनाते हैं। ऐसी आत्माओं का मिलना परमात्मा को भी प्रिय एवं सन्तोषजनक ही लगता है।

भक्त भगवान को तलाशता है और भगवान भक्त को ढूँढ़ते हैं। कैसी आँख मिचौनी है कि कोई किसी को मिल नहीं पाता। तथाकथित भक्तों की कमी नहीं वे तलाशते भी हैं पर मिल नहीं पाते। इसलिए कि उन्हें न तो भगवान का स्वरूप मालूम है न प्रयोजन न मिलने का मार्ग। खुशामद और रिश्वत मनुष्यों को आकर्षित करने वाला फूहड़ तरीका ही लोगों के अभ्यास में रहता है सो वे उसे भगवान् पर भी प्रयुक्त करते हैं। लम्बी-चौड़ी शब्दावली का उच्चारण करके भगवान् को इस प्रकार बहकाने का प्रयत्न करते हैं मानो वह उच्चारण को ही यथार्थ समझता हो और मानो अन्तरंग की स्थिति का उसे पता ही नहीं। स्तोत्र पाठ और कीर्तनों का बवंडर हमें सुनाई पड़ता है। यदि उसके मूल में मिलन की भावना भी सन्निहित रही होती तो कितना अच्छा होता। पर मिलन का तो अर्थ ही नहीं समझा जा सका। मिलन का अर्थ होता है समर्पण। समर्पण का अर्थ है विलीन होना। बूँद जब समुद्र में मिलती है तो अपना स्वरूप, स्वभाव सभी खो देती है और समुद्र की तरह ही लहराने लगती है। चूँकि समुद्र खारा है इसलिए बूँद अपने में भी खारापन ही भर लेती है। कोई ऐसा चिह्न शेष नहीं रहने देती, जिससे उसका अस्तित्व अलग से पहचाना जा सके। ईश्वर से मिलन का अर्थ अपने आप को गुण, कर्म स्वभाव की दृष्टि से ईश्वर जैसा बना लेना और अपनी आकांक्षाओं

तथा गतिविधियों को वैसा बना लेना जैसा कि ईश्वर की है अथवा उसे हमसे अभीष्ट है। मिलन का इतना दायरा जो समझ सकता है उसी की चेष्टायें तदनुरूप हो सकती हैं। जिसने वस्तुस्थिति को समझा नहीं, वह चापलूसी का—खुशामदखोरी का धन्धा अपनाकर वैसे ही ईश्वर को भी अपने वाक् जाल में बाँधना चाहता है जैसे कि अहङ्कारी और मूर्ख लोगों को चापलूस अपने जाल में फँसा कर अपना उल्लू सीधा करते हैं।

दूसरा तरीका ओछे लोगों का कुछ प्रलोभन या रिश्वत देकर किसी को अपने पक्ष में करने का रहता है। वे इस हथियार से ही लोगों से अपना मतलब निकालते हैं थोड़ी रिश्वत देकर फायदा उठाने की कला उन्हें मालूम रहती है। ऐसे ही ईश्वर को भी थोड़ा प्रसाद, वस्त्र, छत्र, मन्दिर आदि के प्रलोभन देकर उससे अपनी भौतिक आकांक्षायें पूरा करा लेने की घात लगाते रहते हैं। वे याचनायें उनके पुरुषार्थ के अनुरूप हैं या नहीं, उन्हें सँभालने सदुपयोग कर सकने की क्षमता भी है या नहीं, वे नीति न्याय एवं औचित्य युक्त भी हैं या नहीं, इतना सोचने की किसे फुरसत? ईश्वर हमारी कामनाएँ पूरी करें और बदले में थोड़ा सा उपहार रिश्वत के रूप में दे दें। इतनी ही बुद्धि इन तथाकथित भक्तों की काम करती है और वे शब्दाडम्बर तथा उपहार प्रलोभन के तुच्छ आधारों से ऊँची बात सोच ही नहीं पाते। फलस्वरूप उन्हें खाली हाथ ही रहना पड़ता है। इन तथाकथित भक्तों में से किसी को भी भगवान नहीं मिलता और उसके सारे क्रिया कृत्य निष्फल चले जाते हैं।

भगवान् को भी भक्त नहीं मिलते और उसे भी इस उपलब्धि के आनन्द से वंचित रहना पड़ता है। माता बच्चे को गोद में तब उठाती है जब टट्टी से सनी हुई देह की सफाई हो जाती है। बच्चा भले ही रोता रहे पर जब तक वह गन्दगी से सना है गोदी में नहीं ही उठाया जायेगा। उसे माता की निष्ठुरता कहा जाय—कहते रहें पर बात तो उसी तरह बनेगी जो उचित है। सफाई आवश्यक है। उसके

बिना गाड़ी आगे नहीं बढ़ेगी। मनुष्य को अपने कषाय कल्मषों की मलीनता धोनी ही पड़ेगी। अन्तःकरण को निर्मल और निश्छल बनाना ही पड़ेगा। इसके बिना उसकी गणना उन भक्तों में न हो सकेगी जो प्रभु से मिलन का लाभ उठा सकने के अधिकारी होते हैं।

दूसरा कदम है ईश्वर की इच्छानुसार अपने को ढाल लेने का साहस। पतिव्रता स्त्री अपने स्वभाव आचरण एवं क्रिया कलाप को पति की इच्छानुरूप ढाल लेती है। इसके बिना दाम्पत्य जीवन कैसा? मिलन का आनन्द कहाँ? समर्पण के आधार पर ही आत्मा को अद्वैत के रूप में परिणत किया जाता है। ईश्वर की इच्छा को अपनी इच्छा बनाकर—उसके संकेत और निर्देशों को ही अपनी आकांक्षा और क्रिया में जोड़ देना, इसी का नाम समर्पण है, मिलन की साधना इसी से पूरी होती है। अपनी इच्छाओं को पूरी करने के लिये ईश्वर के आगे गिड़गिड़ाना और नाक रगड़ना, भला यह भी कोई भक्ति है। लोभ और मोह की पूर्ति के लिए दाँत निपोरना भला यह भी कोई प्रार्थना है? इस प्रकार की भक्ति को वेश्यावृत्ति ही कहा जा सकता है। भौतिक स्वार्थ के लिए किए गये क्रिया-कलापों को ईश्वर के दरबार में भक्ति संज्ञा में नहीं गिना जा सकता। वहाँ तो भक्त की कसौटी यह है कि किसने अपनी कामनाओं और वासनाओं को तिलाञ्जलि देकर ईश्वर की इच्छा को अपनी इच्छा बनाया और उसकी मर्जी के अनुरूप चलने के लिए कठपुतली की तरह कौन तैयार हो गया? जो इस कसौटी पर खरा उतरता है-वही भक्त है। भक्त भगवान को अपनी मर्जी पर चलाने के लिए विवश नहीं करता वरन् उसकी इच्छा से अपनी इच्छा मिलाकर अपनी विचार प्रणाली एवं कार्य-पद्धति का पुनर्निर्माण करता है। तब उसके सामने इस विश्व को अधिक सुन्दर, अधिक समुन्नत और अधिक श्रेष्ठ बनाने की ही एकमात्र इच्छा शेष रह जाती है। अपने आपको काया की तथा परिवार की तुच्छता में आबद्ध नहीं करता वरन् सबमें अपनी आत्मा को—अपनी आत्मा में सबको समाया हुआ समझ कर लोक-

मङ्गल के लिये जीता है और वसुधैव कुटुम्बकम् के अनुरूप अपनेपन की परिधि अति व्यापक बना लेता है। तब उसे अपनी काया ईश्वर के देव मंदिर जैसी दीखती है और अपनी सम्पदा ईश्वर की पवित्र अमानत जैसी। जिसका उपयोग ईश्वरीय प्रयोजन के लिये ही किया जाता है।

इन मान्यताओं को अन्तःकरण में गहन श्रद्धा की तरह प्रतिष्ठापित कर लेने वाला व्यक्ति भक्त है। उसे ईश्वर दर्शन के रूप में किसी अवतार या देवता की काल्पनिक छवि को आँख से दीख पड़ने की बात बुद्धि उठाती ही नहीं। वह इसे दिवास्वप्न मात्र मानना और निरर्थक समझता है। उसका ईश्वर दर्शन अधिक वास्तविक और बुद्धि संगत होता है। जो अपनी विचारणा और प्रक्रिया में ईश्वर की प्रेरणा को चरितार्थ होते देखता है। जिसकी आत्मा में ईश्वर के सत्पथ पर चलने की पुकार सुनाई पड़ती है समझना चाहिए उसमें ईश्वर बोलता है—बात करता है—साथ रहता है और अपनी गोदी में उठाने का उपक्रम करता है। भक्ति की सार्थकता इसी स्थिति में है।

हमारा आपा महान् है। निस्सन्देह परमेश्वर भी महान है। पर इन दोनों सत्ताओं का मिलन और भी महान है। यदि यह सम्भव हो सके तो उसे व्यक्ति का महान सौभाग्य और ईश्वर का महान सन्तोष ही कहा जायगा। इस मिलन के कितने महान परिणाम होते हैं उनकी झाँकी इस प्रयोजन को पूरा कर सकने वाले अपने निजी जीवन में अनुभव करते हैं और अपने समीपवर्ती संसार में भी।

ईश्वर और जीव का मिलन संयोग

सृष्टि संचालन का क्रीड़ा कौतुक रचने के लिए परमात्मा एक से बहुत बना। उसकी इच्छा हुई कि "मैं अकेला हूँ-एक से बहुत हो जाऊँ" उसकी यह इच्छा ही मूर्तिमान होकर सृष्टि के रूप में प्रस्तुत हो गई। "एकोऽहम् बहुस्यामि" का संकल्प साकार रूप धारण कर यह संसार बन गया। निर्माण होने के बाद उसका लक्ष्य

और कार्यक्रम निर्धारित होना था सो इस प्रकार हुआ कि—बहुत भागों में विभक्त हुये ब्रह्म-विभाग पुनः एकता की ओर चले। अणु रूप में बिखरा हुआ जीवन पुनः विभु बने। बादल से छोड़ी हुई बूँदें अलग-अलग बरसें भले ही पर वे एकत्रित होकर पुनः समुद्र की रचना के लिये गतिशील भी बनी रहें। आत्माएँ अलग-अलग दीखते हुए भी उनकी गतिविधि पुनः इस अलगाव को मिटाकर एकता की ओर उन्मुख रहे। यही सृष्टि का लक्ष्य और कार्यक्रम बन गया। इस तथ्य के आधार पर जड़-चेतन सृष्टि की विविध विधि गति-विधियाँ चलती रहती हैं।

बिछुड़ने की क्रिया के साथ इस सृष्टि की रचना तो हुई है पर आगे का कार्यक्रम मिलन और एकता पर आधारित है। समुद्र का पानी भाप बनकर अपने केन्द्र स्थल से बिछुड़ कर सुन्दर हिम प्रदेशों में जाकर बर्फ बन जाता है। किन्तु यह बिछुड़ने की प्रक्रिया देर तक स्थिर नहीं रहती। जैसे ही अवसर मिलता है, थोड़ी गर्मी का सहारा पाकर बर्फ पिघलती है और वह पानी जैसे-जैसे अपना मार्ग खोजता हुआ नदी नालों में होता हुआ समुद्र की ओर दौड़ पड़ता है। बढ़ते हुये पानी की बेचैनी और दौड़ धूप तब तक समाप्त नहीं होती जब तक कि वह परिपूर्ण जलाशय समुद्र में मिल कर स्वयं भी उसी रूप में परिणत नहीं हो जाता। जल आरम्भ में भी पूर्ण था, भाप बन कर अपूर्णता उसे प्राप्त हुई तो उसे दूर करने का प्रयत्न अनेक हलचलों के रूप में दृष्टिगोचर होने लगा। इसी हलचल का नाम सृष्टि क्रम है। इसे अशान्ति भी कह सकते हैं। मिलन ही इस अशान्ति का उद्देश्य है और जब अपूर्णता दूर होकर पूर्णता की उपलब्धि हो जाती है तो दौड़ धूप भी समाप्त हो जाती है और अशान्ति भी।

मानव जीवन का यही क्रम है। नियति की व्यवस्था ने केन्द्रीय परिपूर्णता से बिछुड़ा दिया है। अब उसके सामने एक ही कार्यक्रम रह जाता है कि तेजी के साथ पुनः केन्द्र की ओर दौड़े और अपनी अपूर्णता को समाप्त कर पूर्णता में विलय हो जाय। इसी को जीवन लक्ष्य कहते हैं। मुक्ति, पूर्णता ब्रह्म निर्वाण आदि भी इसे ही कहा गया है।

बिछुड़ने की कष्टकर प्रक्रिया इसलिये चली कि जीव मिलन के आनन्द का आस्वादन कर सके। माता अपने शरीर का रक्त मांस एकत्रित करके पेट में एक नन्हें शिशु की रचना करती है। जब तक वह शिशु रक्त माँस के रूप में था या भ्रूण बन रहा था, तब तक उसमें कोई विशेष आकर्षण न था पर जब वह गर्भ परिपक्व होकर शरीर से बाहर निकल गया, बिछुड़ गया और मां-मां कह कर पुनः अपनी माँ की गोद में आने के लिये विलाप करने लगा तो प्रेम भावना की लहरें उठने लगीं। माता उस बच्चे को छाती से लगा लेती है और उसके साथ मिलन का असीम आनन्द और प्रेम अनुभव करती है। बच्चे को भी माँ के बिना चैन नहीं पड़ता। बिछुड़न ने मिलने की प्रेरणा दी और जैसे ही उसका प्रयत्न आरम्भ हुआ कि प्रेम बरसने लगा।

आत्मीय जन जब कभी बिछुड़ने के बाद पुनः मिलते हैं तो उस मिलन बेला में अत्यधिक आनन्द अनुभव होता हैं। पति-पत्नी दूर-दूर रहते हों और बहुत दिन बाद वे मिलते हैं तो उनके आनन्द की सीमा नहीं रहती है। कोई भी प्रेमी सम्बन्धी हो परस्पर मिलते हुये सभी को प्रसन्नता होती है। कई बार तो यह आनन्द इतना बढ़ा-चढ़ा होता है कि इसके लिये लोग आवश्यक कार्यों को भी छोड़कर उस सहचर-आनन्द में निमग्न बने रहते हैं। कई छात्र पढ़ाई छोड़ कर यार, दोस्तों के साथ मटरगश्ती में बहुत सारा समय लगा देते हैं। कारण एक ही है कि जहाँ कहीं भी प्रेम, एकता और आत्मीयता का दर्शन होगा वहीं मनुष्य शान्ति और सन्तोष प्राप्त करेगा।

ईश्वर प्राप्ति और ईश्वर भक्ति के लिये सच्चे मन से प्रयत्न करने वालों को असीम आनन्द की अनुभूति होती है। क्योंकि परमात्मा ही आत्मा का उद्गम केन्द्र, सजातीय और सच्चा स्नेही सम्बन्धी है। सांसारिक प्रियजनों के साथ उठने-बैठने में जीव को इतना आनन्द आता है तो आत्मिक और वास्तविक प्रिय-प्रेमी परमात्मा के सान्निध्य में आनन्द क्यों नहीं आना चाहिये? जिनका मन उपासना में लगता नहीं, या जिन्हें आनन्द नहीं आता, समझना चाहिये कि इन्होंने उपासना

के तत्वज्ञान, आदर्श और विधान को अभी समझा ही नहीं है। पूजा का कर्मकाण्ड तो करते रहते हैं पर उपासना में आनन्द की अनुभूति उन भावनाओं पर निर्भर रहती है जो दो बिछुड़े हुओं को जोड़ने के लिये आवश्यक है।

इस लेख माला के अन्तर्गत आगे किसी अङ्क में यह बतावेंगे कि उपासना के समय अलौकिक आनन्द की अनुभूति का लाभ किस प्रकार मिल सकता है। अभी इन पंक्तियों में तो इतना ही बताना है कि इस संसार के जड़ चेतन प्रत्येक पदार्थ का कार्यक्रम वियोग दूर करके संयोग का आनन्दमय मिलन प्राप्त करना है। धातुओं की खानों का पता लगाने वाले अन्वेषक मिट्टी में मिले हुए धातु कणों की चाल और दिशा का हिसाब लगा कर यह निर्धारित करते हैं कि यहाँ से कितनी दूरी पर, किस दिशा में किस धातु की कितनी बड़ी खान होनी चाहिये। बात यह है कि मिट्टी में हर धातु के कण मिले होते हैं। वे कण सूक्ष्म आकर्षण शक्ति से खिंचते हुये धीरे-धीरे अपने आप किसी दिशा में सरकते रहते हैं। धातु की बड़ी खान जहाँ होती है वहाँ से अपने सजातीय कणों को खींचने की एक चुम्बकीय विद्युतधारा काम करती रहती है। उसी के खिंचाव से धातुओं के कण अपनी-अपनी जाति की धातुओं की ओर सरकते चले जाते हैं और उनके इकट्ठे होते रहने से खानों में धातुओं की मात्रा निरन्तर बढ़ती रहती है।

आत्मा को मिट्टी में मिला हुआ धातु कण कहा जाय तो परमात्मा को एक विशाल खान कहा जायेगा। छोटा अणु जब तक रेत में मिला रहता है, तब तक उसका कोई मूल्य और महत्व नहीं रहता, पर जब वह घिसटने-घिसटते खान में सम्मिलित हो जाता है तो उसका अस्तित्व सभी की दृष्टि में आता है और उस एकत्रित पदार्थ का उपयोग भी बहुत भारी होता है। आत्मा जब परमात्मा के समीप पहुँचती है, तो उसमें ईश्वरीय तत्वों की इतनी मात्रा बढ़ जाती है कि मनुष्य भी ईश्वर जैसा दीखता है। ऋषियों और महापुरुषों में

इसी प्रकार की ईश्वरीय विशेषता रहती है। यह समीपता बढ़ते-बढ़ते जीव अन्ततः जीवनमुक्ति का ही अधिकारी बन जाता है।

आत्मा और परमात्मा की एकता के साथ-साथ जिस परमानन्द एवं ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है, उसे पाकर जीव धन्य बन जाता है, इस एकता के लिए जहाँ उपासना साधना और भावना का अवलम्बन करना आवश्यक होता है। वहाँ यह भी अनिवार्य है कि जीवन की गतिविधियाँ प्रथकतावादी नहीं वरन् एकतावादी हों। अध्यात्म और अनात्म, पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म, उचित और अनुचित का निर्णय इसी आधार पर होता है कि उसके मूल में एकता की ओर बढ़ने न बढ़ने की कितनी भावना सन्निहित है। नीति, धर्म और आचार शास्त्र का समस्त विधि विधान इस एक तथ्य को ध्यान में रखकर ही रचा गया है।

समाज को विराट् ब्रह्म का स्वरूप माना गया है। गीता में अर्जुन को, रामायण में काकभुसुण्डि और कौशल्या को, भागवत में यशोदा को भगवान ने अपना विराट् रूप दिखाया है। वह समस्त विश्व ब्रह्माण्ड ही तो है। यह सारा संसार भगवान का ही रूप है, इस मान्यता को अन्तरात्मा में स्थिर कर लेने पर हर घड़ी परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं और साथ ही वह आनन्द उल्लास भी अनुभव हो सकता है जो परमात्मा का दर्शन करते हुए होना चाहिए। इस भावना के अनुसार व्यक्ति का यही कर्त्तव्य निर्धारित होता है कि वह हर पदार्थ और हर प्राणी के प्रति सद्भावना रखे और हरेक से सद्व्यवहार बरते। विचारणा और क्रिया का यह स्तर धर्म और सदाचार पुण्य और परमार्थ ही कहलाता है।

संगठन और एकता से प्राप्त होने वाले लौकिक लाभों से सभी परिचित हैं। मिल-जुल कर काम करने से, प्रेम और आत्मीयता की भावना रखने से संगठित और समूहबद्ध रहने से अगणित प्रकार के शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक लाभ प्राप्त होते हैं इसकी जानकारी हम सबको है ही। इसलिए हर मंच से

विचारशील व्यक्ति यही कहते रहते हैं कि हमें संगठित होना चाहिए, एकता रखनी चाहिए। कलियुग में तो संघशक्ति को ही प्रधान माना गया है। "संघशक्ति कलौयुगे" का मंत्र सभी की विचारणा में मौजूद है। तिनके मिल कर मजबूत रस्सी और कमजोर सींके मिल कर बुहारी बनने का उदाहरण देकर हम लोग एक दूसरे को समझाते रहते हैं कि फूट और प्रथकता से हानि एवं सङ्गठन और एकता से लाभ हैं। इस उद्देश्य के लिये अनेकों संस्थाएँ भी काम करती हैं। प्राचीन काल में धर्म सम्प्रदायों का भी यही उद्देश्य था।

मानव जीवन को लौकिक सुविधा और सुरक्षा के लिये एक की भावना जितनी आवश्यक है आत्मिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसकी और भी अधिक आवश्यकता है। व्यक्ति जितना ही प्रथकतावादी, संकीर्ण, स्वार्थी होगा, उतनी ही पाप वृत्ति उसे घेरे रहेगी। जिसे अपना ही मतलब है, जो अपने ही लाभ और स्वार्थ की बात सोचता रहता है, उसे दूसरों के प्रति प्रेम और दर्द क्यों होगा? ऐसा व्यक्ति अपने लाभ के लिये दूसरों का कुछ भी अहित कर सकता है। मांसाहार, चोरी, ठगी, हत्या, बेईमानी, धोखेबाजी आदि पापकर्मों के पीछे कर्ता की स्वार्थपरता, संकीर्णता ही प्रधान रहती है। यदि दूसरे लोग भी अपने ही आत्मीय, स्वजन सम्बन्धी एवं भगवान के प्रतिनिधि दीखने लगें, सब में अपनी आत्मा दिखाई पड़े तो यह सम्भव नहीं कि मनुष्य कोई दुष्कर्म कर सके। संकीर्णता एवम् स्वार्थपरता ही समस्त प्रकार के कुकर्म कराती है। लोभी और कंजूसों में एक ही दुर्गुण होता है कि वे केवल अपनी ही बात सोचते रहते हैं। कई अध्यात्मवादी कहलाने वाले सज्जन भी इसी श्रेणी में जा बैठते हैं, उनकी भावना भी संसार को भाड़ में जाने देकर अपनी मुक्ति प्राप्त करने की रहती है। ऐसे लोग मुक्ति तो दूर अपना लौकिक जीवन भी सफल बनाने में समर्थ नहीं हो सकते।

समाजवाद और साम्यवाद के सिद्धान्तों में इस बात पर जोर दिया गया है कि व्यक्ति की योग्यता एवं कमाई का लाभ सारा

समाज उठावे। व्यक्तिगत प्रतिभा एवम् क्षमता अधिक होने पर भी उससे उत्पन्न लाभों से वह व्यक्ति ही लाभान्वित न हो वरन् सारा समाज एक है इसलिये दूसरों को भी उसका लाभ मिले। अन्य बातों में इन वादों से मतभेद हो सकता है पर इतना अंश तो आध्यात्मिक आदर्शों की ही पुष्टि करता है कि व्यक्ति की सीमा उसके निज के छोटे दायरे में नहीं वरन् विश्व हित के व्यापक तथ्य से जुड़ी हुई है। व्यक्ति अपनी योग्यता चाहे जितनी बढ़ावे, उत्पादन चाहे जितना करे पर यह न सोचे कि इसका लाभ मुझे ही मिलना चाहिये। विचारणा और क्रिया आरम्भ करने से पूर्व यह सोचा जाना चाहिये कि इसका प्रभाव दूसरों पर क्या पड़ेगा? विश्व हित की दृष्टि से मेरे विचार और कार्यों की क्या प्रतिक्रिया होगी।

दुष्कर्मों का आधार व्यक्तिगत संकीर्णता और स्वार्थपरता ही है। जब तक यह दुष्प्रवृत्तियाँ मनोभूमि में जड़ जमाये रहेंगी तब तक मनुष्य प्रकट न सही तो गुप्त रूप से, एक प्रकार से न सही तो दूसरे प्रकार से दुष्कर्म करता रहेगा और उसकी गतिविधियाँ संसार में विक्षोभ एवं सन्ताप उत्पन्न करती रहेंगी।

जीवन का लक्ष्य पृथकता, बिछुड़न से पीछा छुड़ा कर प्रेम और एकता की ओर अग्रसर होना है ताकि बिछुड़ा हुआ अपने उद्‌गम परमात्मा के समीप पहुँच कर मिलन आनन्द लाभ कर सके। इसके लिए वे उपासना उपयोगी होती हैं जो जीव और ईश्वर की एकता अनुभव कराने में समर्थ होती हैं। साथ ही यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति का जीवनक्रम एकता के आदर्शों के अनुकूल रहे। हम सब ईश्वर के अमर पुत्र आपस में भाई बहिन हैं। परस्पर प्रेम और एकता की भावना से ओत-प्रोत सामूहिक हित से सत्कार्य करने और सद्‌भाव से ही तो स्वार्थपरता व हृदयों की वह दूरी समाप्त हो सकती है जो इस संसार में विभिन्न प्रकार के उपद्रव आये दिन खड़े करती रहती है।

शान्ति और सृष्टि के लिये सद्‌गति और जीवन मुक्ति के लिये एक ही मार्ग है, ईश्वरीय सृष्टि विधान के अनुसार भगवत इच्छा

के अनुसार आचरण करना। भगवान ने अपने से जीवों को पृथक करके उन्हें तेजी से अपनी ओर दौड़ कर आने का खेल रचा है। इसी खेल को हम समझें। उसकी इच्छा पूर्ण करें। अपनी संकीर्णता छोड़ें। जो कुछ चारों ओर दिखाई पड़ता है उसके साथ एकता और आत्मीयता अनुभव करें और विश्व विराट् के लिए अपनी अहंता और संकीर्णता का आध्यात्मिक उत्सर्ग करते चलें। यह उत्सर्ग ही जीवन लक्ष्य की प्राप्ति का मूल्य है। जो उसे चुकाने को तैयार है उसके लिए अभीष्ट वस्तु का प्राप्त कर सकना कुछ भी कठिन नहीं रह जाता है।

परमेश्वर के अजस्र अनुदान को देखें और समझें

बनाने और सँभालने वाले को अपनी वस्तु से स्वभावतः प्रेम होता है। हम मकान बनाते हैं, बगीचा लगाते हैं, चित्र बनाते हैं, पुस्तक रचते हैं, उनसे स्वभावतः लगाव और प्रेम होता है। ईश्वर ने हमें बनाया है, सँभाला है—और भविष्य में भी हमारी सँभाल रखने का उत्तरदायित्व उसी के कन्धों पर है ऐसी दशा में उसका प्रेम भी हमें अनायास ही प्राप्त रहता है।

अपनी सन्तान को कौन प्यार नहीं करता है। पशुपक्षी तक उनके लिए कष्ट सहते त्याग करते हैं, और अविकसित हृदय में भी ममता, आत्मीयता उगाते हैं। यदि ऐसा न होता तो उन जीव-जन्तुओं के शिशुओं का जीवन धारण ही कठिन हो जाता। मनुष्य तो अन्य बातों में अन्य जीवों से आगे होने के कारण सन्तान पालन के लिए और भी अधिक तत्पर रहता है। केवल उन के भरण-पोषण का ही नहीं—शिक्षा-दीक्षा, विवाह शादी, रोटी रोजगार, सुख-दुःख में भी पूरी सहायता करता है। अपना अधिकांश समय, प्यार और प्रयत्न उन्हीं के लिए नियोजित रखता है। यहाँ तक कि मरने के उपरान्त अपनी जीवन भर की कमाई भी उसी के लिए उत्तराधिकार में छोड़ जाता है। अपने सृजन में ऐसा प्यार होना स्वाभाविक है।

हम परमेश्वर की सन्तान हैं। विकसित जीव अपनी सन्तान को अधिकतम दुलार देते हैं। ईश्वर को यदि प्राणधारी माना जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह सर्वोपरि सुविकसित प्राणी है। यदि ऐसा न होता तो मनुष्य जैसी सर्व साधन सम्पन्न सन्तान की उत्पत्ति कैसे करता। जन्म देकर ही कोई सहृदय अभिभावक अपनी सन्तान को भटकने के लिए नहीं छोड़ देता, फिर परमात्मा हम से विमुख कैसे हो सकता है। जब सन्तान के प्रति प्रेम होना सृष्टि का नियम है तो परमेश्वर का प्यार—अपनी सर्वोत्तम कृति-परम प्रिय सन्तान—मनुष्य के लिए क्यों नहीं होगा?

इस प्रेम की विशिष्टता का परिचय इसी से मिलता है कि हमें ईश्वर प्रदत्त अत्यधिक सुविधायें उपलब्ध हैं। ऐसा लगता है मानो यह सारा जगत हमारी ही सेवा सुविधा और प्रसन्नता के लिए बनाया हो। जिस ओर भी दृष्टि दौड़ाई जाय हर्षोल्लास प्रदान करने वाले साधनों का बाहुल्य दीखता है। छोटे बच्चों को अभिभावक सुन्दर खिलौने लाकर देते हैं। जिधर भी दृष्टि दौड़ाकर देखें उधर ही एक से एक बढ़कर सुन्दर—सुसज्जित, मधुर गतिशील और भाव भरे खिलौने भरे और खड़े दीखते हैं। कैसी सुरम्य है इसकी शोभा कैसा महान है इसका सृजेता। मानवीय सुविधा का क्या ठिकाना। शरीर को ही लें, एक से एक अद्भुत क्षमता वाली इन्द्रियों के उपकरण जादू के पिटारे जैसा मन, ऋद्धि-सिद्धि जैसी प्रज्ञा। दर्पण में देखें तो देवता जैसा दीखता है। वह अपना 'आपा'। जीवन जीवन में घुला देने वाली पत्नी, किलकते फुदकते बच्चे, वात्सल्य भरे अभिवादन, भुजाओं की तरह साथी बन्धु तथा मित्र गण। कितना सुन्दर है यह सब। आजीविका के साधन, मनोरञ्जन की सुविधायें, प्रगति पथ के सहायक गुरुजन, क्या नहीं है यहाँ? प्रकृति अपना अंचल ताने छाया कर रही है। सूरज, चन्द्र, तारे, बादल, पवन, ऋतु परिवर्तन, क्या नहीं हैं यहाँ? वाहन, सहायक, पशु, वैज्ञानिक सुविधायें, इस सब सरंजाम पर दृष्टि डालते हैं तो परमेश्वर का प्रेम और अनुदान

असीम मात्रा में अपने चारों ओर बिखरा पड़ा है। यह सब उसके प्रेम का प्रत्यक्ष परिचय नहीं तो और क्या है? जरा विचार करें, यदि हमारे पिता ने हाथ सिकोड़ लिया होता, उपेक्षा दिखाई होती तो बन्दर, कबूतरों से भी घटिया जीवन ही जिया जा सकता था। अद्भुत और अनुपम सुविधायें जिनका हम उपभोग कर रहे हैं। अपने बलबूते उन्हें कैसे जुटाया जा सकता था।

यह हमारी अन्तरात्मा में विराजमान है। अहर्निश साथ रहने वाले साथी की तरह वह सहायता करने के लिए सदैव उपस्थित रहता है। पग-पग पर आने वाली कठिनाइयों का वही समाधान करता है। विपत्ति की भयावह विभीषिकाओं से बचा लेने के लिए उसी की लम्बी भुजाएँ सहायता के लिए आगे आती हैं। सङ्कट की घड़ी में धैर्य बँधाने वाला, सहारा देने वाला, रास्ता बताने वाला वही तो है। उत्ताल तरंगों वाले इस संसार सागर से हम उसी की नाव पर बैठकर तो पार होते हैं। परमेश्वर के प्रेम में कमी कहाँ है? उसके अनुदानों में न्यूनता कहाँ ढूँढी जा सकती है।

परमेश्वर के द्वारा अपने ऊपर अनवरत रूप से बरसते हुए प्रेम का कदाचित हम अनुभव कर सके होते तो उस अनुभूति की प्रतिक्रिया हमारे अन्तःकरण में भी प्रेम प्रवाह उत्पन्न करती। गाय के वात्सल्य को यदि बछड़े ने समझा होता तो उसे लगता कि मैं निरीह नहीं हूँ। एकाकी नही हूँ। मेरा कोई है और किसी का मैं हूँ।

हम किसी के नहीं और कोई हमारा नहीं दूसरों की तो बात ही क्या-अपने आप के भी हम नहीं हैं। स्थिति की विषमता यहाँ तक पहुँची है कि न आत्मा के हम और न आत्मा हमारा। न परमेश्वर हमारा और न परमेश्वर के हम। यह विडम्बना कैसे उत्पन्न हो गयी। अपने बिराने कैसे हो गये। अनन्य और अभिन्न आत्मीयता का प्रवाह कहाँ रुक गया? कैसे रुक गया?

यह विस्मृति की मूर्छना ही है जिसने अपने को पहचानने से वंचित कर दिया। प्रेम की अमृत वर्षा का अनुभव तक कर

सकने में हम असमर्थ हो गये। हाय, हमारा यह क्या हो गया। मती रूपी सीता को कौन रावण हर ले गया। अपने लिए विलाप, रुदन और पतन ही क्यों रह गया? उत्कर्ष और आनन्द की समस्त उपलब्धियाँ कौन चुरा ले गया? हम एकाकी इस भयावह श्मशान में कहाँ आ भटके? आ क्यों गये? कौन यहाँ ले आया?

यह सारी माया इस अविद्या मरीचिका की है जिसने जल में थल और थल में जल दिखाने की भ्रान्ति उत्पन्न कर दी। परमेश्वर का प्रेम यदि याद रहा होता तो उसके साथ डोरी भी बँधी रहती। तब जीवन की पतङ्ग झोंके खाती हुई—नष्ट होने के लिए इस गर्त में क्यों गिरती।

जिस परमेश्वर ने इतना दिया है। उसी का पल्ला पकड़े रहते तो विवेक रूपी चिन्तामणि का एकमात्र उपहार जो शेष रह गया है वह भी प्राप्त कर लेते। यदि वह रत्न मिल जाता तो फिर कोई अभाव क्यों प्रतीत होता, कोई कष्ट क्यों सताता? अभाव यहाँ है कहाँ—कष्ट यहाँ आया कहाँ से? इस स्वर्ग में कुत्साओं के लिए स्थान कहाँ है? कुण्ठाओं के लिए गुञ्जायश कहाँ है? परमेश्वर के राज्य में—परमेश्वर के पुत्र के लिए कष्ट—अभाव—यह कैसे हो सकता है?

अज्ञान ही है जो रुलाता है? अन्धकार ही है जो गिराता है। इस अज्ञान अन्धकार में भटक इसलिए रहे हैं कि परमेश्वर के प्रेम रूपी प्रकाश ने साथ रखने से इनकार कर दिया। यदि अपने अत्यन्त प्रिय पात्र के बरसते हुए प्रेम को अनुभव किया होता उससे लिपटने की, उसे साथ रखने की-अन्तःकरण में स्थान देने की चेष्टा की होती। यदि उससे लिपट जाते तो राम-भरत के मिलन जैसा आनन्द आता। तब राधा-कृष्ण की तरह, आत्मा और परमात्मा की एकता ने इस मधुवन में ऐसा रास रचाया होता कि यहाँ हास-उल्लास के अतिरिक्त और कुछ दीखता ही नहीं।

परमेश्वर के प्रेम में न्यूनता ढूँढ़ना व्यर्थ है। अपनी दयनीय स्थिति के लिए दैव को दोष देना निरर्थक है। देखने के—सोचने के

उलटे तरीके को बदलें। आत्मा और परमात्मा की सघनता को समझें। परमेश्वर के होकर रहें। उसके प्रकाश को अपनायें, उसकी तरह सोचें और उसके इशारे पर चलें तो वह हमारा हो जाय।

परमेश्वर का प्रसाद हम निरन्तर पा रहे हैं, उसे देख सकें तो उसे पाने के लिए व्याकुलता भी जग पड़े। इस महान जागरण में ही मानव जीवन की सार्थकता सन्निहित है।

ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट कलाकृति असम्मानित न हो

कोई प्रतिष्ठित मूर्तिकार इस बात को ध्यान में रखकर मूर्ति बनाता है कि उसकी यह कृति सराही जाय और उसके निर्माण को, कलाकारिता को सम्मान मिले। अच्छे चित्रकार अपनी प्रतिष्ठा का भी ध्यान रखते हैं और जो चित्र बनाते हैं उनमें अपने सम्मान को भी जुड़ा रखते हैं। प्रत्येक कलाकार अपनी कला-कृतियों में अपनी गरिमा का ध्यान रखता है। यदि वह भोंड़ी या भद्दी होती है तो उस कृति का ही तिरस्कार उपहास नहीं होता वरन् उसके सृजेता कलाकार का भी गौरव गिरता है।

ईश्वर की सर्वोत्तम कृति मनुष्य है। इसे बनाने तराशने में उसने अपनी कलाकारिता का अन्त कर दिया है। शरीर के एक-एक कल पुर्जे की रचना और कार्य शैली पर विचार करते हैं तो विदित होता है कि संसार के समस्त वैज्ञानिक मिलकर ईश्वर निर्मित किसी एक अवयव की सही प्रतिकृति नहीं बना सकते। समस्त शरीर की रचना तो एक जादू के महल की तरह है।

मन का—मस्तिष्क का तो कहना ही क्या? गणक कम्प्यूटरी पर आश्चर्य किया जाता है पर विविध प्रयोजनों के लिए बने हुए उत्कृष्टतम लाखों कम्प्यूटर मिलकर भी मस्तिष्कीय चेतना की तुलना नहीं कर सकते। मन की, चित्त की— बुद्धि की क्षमता का तो कहना ही क्या? संसार में दीखने वाला समस्त मानवीय कर्त्तव्य आश्चर्य जैसा लगता है। मनुष्य के उद्भव से पूर्व का संसार और आधुनिक

संसार की तुलना करते हैं तो इस दुनिया का अद्भुत निर्माण हुआ प्रतीत होता है। मनुष्य के हाथ में जितने साधन प्रस्तुत हैं उन्हें देखकर अचम्भा होता है। भविष्य की प्रगति सम्भावनाएँ और भी अधिक हैं। पर यह सब तत्वतः है क्या? मानवीय बुद्धि की एक क्यारी में उगे हुए पुष्पों की एक फसल ही इसे कह सकते हैं। समग्र बुद्धि की—सर्वांगीण उपलब्धियाँ यदि कभी एकत्रित की जा सकीं तो इस धरती पर स्वर्ग निछावर किया जा सकेगा और मनुष्य का अभिवन्दन देवता करेंगे।

यह शारीरिक और बौद्धिक क्षमता की बात हुई। अभी भावना क्षेत्र की—सूक्ष्म दिव्यता की बात शेष है। भावना का उभार—जब प्रेम और आत्मीयता के रूप में प्रस्फुटित होता है तो प्रतीत होता है अमृत स्वर्गलोक में नहीं मानवीय अन्तःकरण में विद्यमान है। तात्विक प्रेम की गङ्गा जिस उद्गम से उमड़ती है वह स्थान शिव के शीर्ष जैसा पवित्र और महान बन जाता है। प्रेमी स्वयं कितना पाता है— और प्रेमपात्र को कितना देता है इसका लेखा-जोखा सांसारिक गणित से सम्भव नहीं हो सकता। जिसे प्रेम नहीं मिला उसे इस संसार से खाली हाथ जाना पड़ा। जिसे प्रेम मिल गया उसे तथाकथित अभावग्रस्त जीवन में भी हुलास उल्लास बिखरा दिखाई पड़ेगा। जो प्रेम दे सका है उसका तो कहना ही क्या— उससे बढ़कर दानी और कौन हो सकता है। जीवन रस से बढ़कर और किसी के पास क्या हो सकता है? अन्तःकरण की उत्कृष्टता का सारतत्व प्रेम है। जहाँ बनता है वहाँ इत्र संस्थान जैसा सुगन्धित, हिम शिखर जैसा धवल शीतल पाया जायेगा। उस अनुदान की वर्षा वह जिस पर करता है उसे मृतक से जीवित कर देता है। प्रेम का आदान-प्रदान कर सकने वाला अन्तःकरण कितना दिव्य और अलौकिक है इसकी चर्चा शब्दों में कैसे की जाय?

सूक्ष्म चेतना का जो ईश्वरीय अनुदान मनुष्य को मिला है उसकी थोड़ी सी झाँकी कभी-कभी योगी तपस्वी आत्म-ज्ञानी करते

हैं। ब्रह्माण्ड की समस्त सत्ता और महत्ता बीज रूप में मनुष्य के भीतर विद्यमान है। इसे विकसित प्रकाशित भर करने की चेष्टा, साधना विज्ञान करता है। भौतिक सिद्धियाँ और दिव्य विभूतियों का इतना बड़ा भाण्डागार मानवीय चेतना में सन्निहित है कि उसे विकसित करते चलने पर ईश्वरीय सृजन के इस विराट ब्रह्माण्ड के भीतर जो कुछ है उस सबके उपयोग और उपभोग की सामर्थ्य प्राप्त की जा सकती है। इतना ही नहीं जीव समग्र ब्रह्म बन सकता है।

कोई मूर्ति—मूर्तिकार नहीं बन सकती। कोई चित्र—चित्रकार नहीं बन सकता। कोई पुत्र—पिता का स्थानापन्न नहीं कहलाता। पर मनुष्य को यह सुविधा प्राप्त है कि वह यदि सीधे मार्ग पर चले तो ईश्वर भक्त ही नहीं—वह साक्षात् ईश्वर भी बन सकता है। अपने दर्पण में समस्त सृष्टि का दर्शन कर सकता है और अपनी आत्मा में सबको प्रतिष्ठित करके उसके साथ क्रीड़ा कल्लोल कर सकता है। मनुष्य की सम्भावनाएँ असीम हैं। जितना असीम परमात्मा है उतना ही महान उसका पुत्र—आत्मा भी है।

मूर्तिकार ने इस मूर्ति को बनाने में अपनी कला का अन्त कर दिया है। ईश्वर कितना महान और अद्भुत है, उसे देखना, जानना हो तो उसकी कलाकृति मानव प्रतिमा को बारीकी से देखा जाय। उसके कण-कण से जो सुन्दरता—गरिमा टपकती है वह अपने आपमें अनुपम है। ऐसा सर्वांगपूर्ण सृजन इस विश्व ब्रह्माण्ड में अन्यत्र कहीं भी ढूँढ़े नहीं मिल सकता।

ईश्वर का अरमान पूरा हो गया और क्रिया-कलाप सम्पन्न। अब हमारा कर्त्तव्य आरम्भ होता है कि उस कर्त्तव्य को कलुषित और कलंकित न करें। सृष्टा की गरिमा को गिरने न दें और उन अरमानों को चोट न पहुँचायें जिन्हें लेकर सृष्टा ने इतनी तीव्र आकांक्षा की और सृजन का कष्ट उठाया।

हमें चाहिए कि अपने स्वाभाविक और ईश्वर के सम्मान को समझें और अपना स्तर वैसा रखें जिससे आत्मा और परमात्मा

का गौरव गिरने न पाये। निकृष्ट गतिविधियाँ अपनाकर हम अपने को कलंकित नहीं करते वरन् ईश्वर की गरिमा को भी गिराते हैं। हमें प्रतिष्ठित होकर जीना चाहिए। अपनी और अपने सृजेता की प्रतिष्ठा को नष्ट न होने देना चाहिए।

अपनी प्रतिकृति—मनुष्य के रूप में बनाने का— उसमें अपनी समस्त कला को समाविष्ट करने का ईश्वरीय प्रयोजन यह रहा है कि उसे ऐसा साथी और सहायक प्राप्त हो सके जो उसकी सृष्टि को सुरम्य एवं सुविकसित बनाने में उसका हाथ बँटाये।

सहायकों की इच्छा करना उचित भी है और स्वाभाविक भी। सरकारी तंत्र, अधिकारी कर्मचारियों की सहायता से चलता है। अकेला शासक सुविस्तृत शासन तंत्र की व्यवस्था कैसे चलाये? कल-कारखानों में एकाकी मालिक सब काम कहाँ करता है। कारीगरों और श्रमिकों की सहायता से ही उस संस्थान की गतिविधियाँ चलती हैं। ईश्वर के इतने बड़े राज्य में असंख्य प्रकार के क्रिया कलापों के सञ्चालन में यदि साथी सहायक की—अधिकारी कर्मचारी की आवश्यकता समझी गई हो तो यह उसका औचित्य भी है।

ईश्वर की सर्वोत्तम कलाकृति दर्शाने भर के लिए मनुष्य का सृजन नहीं हुआ वरन् उसे इसलिए भी साधन सम्पन्न सत्ता के रूप में विनिर्मित किया गया है कि वह इस सृष्टि को सुरभित, सुव्यवस्थित, सुन्दर और समुन्नत बनाने में अपना बढ़-चढ़कर योगदान प्रस्तुत करे। स्वयं इस तरह रहे जिससे दूसरों को अपने चलने का अनुकरणीय दिशा ज्ञान मिलता रहे। उसका कर्तृत्व ऐसा हो जिससे अव्यवस्था को व्यवस्था में—उच्छृङ्खलता को शालीनता में—निकृष्टता को उत्कृष्टता में—कुरूपता को सुन्दरता में परिणत किया जा सकना सम्भव हो सके।

हम ईश्वर के अरमान, श्रम और कौशल को निष्फल न होने दें। ऐसा जीवन जियें जो इस अनुपम सृजन की पग-पग पर सार्थकता सिद्ध कर सके।

आत्मोत्कर्ष के लिये उपासना की अनिवार्य आवश्यकता

शरीर को नित्य स्नान कराना पड़ता है, वस्त्र नित्य धोने पड़ते हैं, कमरे में बुहारी रोज लगानी पड़ती है और बर्तन रोज ही माँजने पड़ते हैं। कारण यह है कि मलीनता की उत्पत्ति भी अन्य बातों की तरह रोज ही होती है। एक बार की सफाई सदा का काम नहीं चला सकती। मन को एक बार स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन मनन आदि से शुद्ध कर दिया जाय तो समाधान होने के बाद भी वह सदा उसी स्थिति में बना रहेगा ऐसी आशा नहीं की जानी चाहिये।

अभी आकाश साफ है अभी उस पर धूलि, आँधी, कुहरा, बादल छाने लगें तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं। एक बार की क्षमता—समझाया हुआ मन सदा उसी निर्मल स्थिति में बना रहेगा इसका कोई भरोसा नहीं। मलीनता शरीर, वस्त्र, बर्तन, कमरे आदि को ही आये दिन गन्दा नहीं करती मन को भी प्रभावित आच्छादित करती है कि अन्य सब मलीनताओं के निवारण की तरह मन पर छाने वाली मलीनता का भी नित्य परिष्कार आवश्यक एवं अनिवार्य मानकर चला जाय और उस परिशोधन को नित्य कर्मों में स्थान दिया जाय। उपासना का यही प्रयोजन है।

यह समझना भूल है कि पूजा करना ईश्वर पर ऐसा अहसान करना है जिसके बदले में उसे हमारी उचित अनुचित मनोकामनायें पूरी करनी ही चाहिए। ओछे स्तर के लोग ऐसा ही सोचते हैं और इसी प्रलोभन से पूजा-पत्री का ओंधा-सीधा ठाठा रोपते हैं। आधार ही गलत हो तो बात कैसे बने-पार कैसे पड़े? पूजा करने वालों से दोस्ती और न करने वालों से 'कुट्टी'। यदि ऐसी रीति-नीति अपनाने लगें तो फिर ईश्वर को समदर्शी कैसे कहा जा सकेगा? फिर संसार में कर्त्तव्य और पुरुषार्थ की आवश्यकता क्या रहेगी? यदि पूजा द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करके मनोकामनायें पूर्ण की जा सकती हैं तो फिर

इतने सस्ते और सरल मार्ग को छोड़कर क्यों कोई कष्ट साध्य गतिविधियाँ अपनाने को तैयार होगा? यदि यह तथ्य सही होता तो मन्दिरों के पुजारी सर्व मनोरथ सम्पन्न हो गये होते और साधु पंडित जो ईश्वर का ही झण्डा उठाये फिरते हैं सर्व कामना सम्पन्न रहे होते। फिर उन्हें अभाव असन्तोष क्यों सताता? प्रत्यक्ष है कि यह वर्ग और भी अधिक दयनीय स्थिति में है। कारण कि उपासना को कामना पूर्ति का माध्यम समझा गया और आवश्यक कर्म निष्ठा से मुँह मोड़ लिया गया है। इस गलत आधार को मान्यता मिल जाने से आस्तिकता का उपकार नहीं हुआ वरन् उसे असत्य और संदिग्ध मानने की अनास्था ही बढ़ी।

प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को मन की—जीवन की स्वच्छता को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानना चाहिए और उसका साधन जुटाने के लिये उपासना का अवलम्बन लेना चाहिये। मन असीम क्षमताओं का भंडार है वह यदि मलीनताओं से भर जाय तो हमें अपार क्षति उठानी पड़ेगी। दाँत साफ न किये जायें तो उनमें कीड़ा लग जायगा और मुँह से बदबू आयेगी। शरीर को स्नान न करायें तो चमड़ी पर जमा हुआ मैल अनेक बीमारियाँ पैदा करेगा। मशीनों की सफाई न की जाय तो पुर्जों में जमा हुआ कीचड़ उनका ठीक तरह से काम करना ही असम्भव कर देगा। सफाई अपने आपमें एक आवश्यक कर्म है। मेहतर, धोबी, कहार जैसे अनेक वर्ग इन्हीं कामों में जुटे रहते हैं। साबुन, फिनायल बनाने की फैक्टरियों से लेकर दन्त मंजनों तक के विशालकाय कारखाने गन्दगी के निराकरण के साधन बनाने में ही लगे रहते हैं। मन इस सबसे ऊपर है यदि उस पर निरन्तर चढ़ते रहने वाली मलीनता की उपेक्षा की गयी तो वह बढ़ते बढ़ते इतनी अधिक हो जायेगी कि हमारा अन्तरङ्ग ही नहीं बहिरङ्ग जीवन भी अव्यवस्थाओं, अस्त-व्यस्तताओं और अवांछनीयता से भरा—घिरा दीखेगा।

उपासना को नित्य कर्म में सम्मिलित करने की आवश्यकता इसीलिए पड़ती है कि आन्तरिक स्वच्छता का क्रम बिना व्यवधान

के निर्बाध गति से चलता रहे। नित्य का अभ्यास ही किसी महत्वपूर्ण विषय में स्थिरता और प्रखरता बनाये रह सकता है। यदि पहलवान लोग नित्य का व्यायाम छोड़ दें, फौजी सैनिक परेड की उपेक्षा कर दें तो फिर उनकी प्रवीणता कुछ ही दिन में अस्त-व्यस्त हो जायेगी। स्कूली पढ़ाई छोड़ने के बाद जिन्हें फिर कभी पुस्तकें उलटने का अवसर नहीं मिलता वे उस समय के सारे प्रशिक्षण भूल जाते हैं। याद केवल उतना ही अंश रहता है जितना काम में आता रहता है। मन की भी यही स्थिति है, वह पशु प्रवृत्तियों के निम्नगामी प्रवाह में तो अनायास ही बहता रहता है, पर यदि उसे उच्च स्तर पर बनाये चढ़ाये रहना हो तो पतंग उड़ाने वालों की तरह बहुत कुछ पुरुषार्थ करना होता है। पानी को कुएँ से निकालने टङ्की तक पहुँचाने में नित्य ही प्रयत्न करना पड़ता है पर नालियाँ अपने आप चलती रहती हैं। गिरा हुआ पानी अपने आप नीचे ढुलकता जाता है और उसको बिना किसी यन्त्र मशीन या प्रयास के नालियाँ बहती रहती हैं। निकृष्ट बनाना हो तो संचित पशु प्रवृत्ति को स्वच्छन्द छोड़ देना पर्याप्त है वे जीवन वृक्ष पर अमर बेल की तरह छा जायेंगी पर यदि उत्कृष्टता का उद्यान लगाना हो तो उसके लिये चतुर माली जैसा कलाकौशल एवं मनोयोग नियोजित करना पड़ेगा। उपासना मनःक्षेत्र को सुरभित उद्यान की तरह फल-फूलों से लदा हुआ बनाने के कुशल पुरुषार्थ की तरह ही समझी जानी चाहिए। वस्तुतः मनोकामनायें पूर्ण करने का यह विवेक संगत एवं यथार्थ मार्ग है। मन देवताओं का भी देवता है। यदि उसे साध सँभाल लिया जाय तो वह कल्पवृक्ष से कम नहीं अधिक ही उपयोगी एवं वरदानी सिद्ध होता है। उपासना इस मन कल्प वृक्ष को सुविकसित बनाने की वैज्ञानिक विधि व्यवस्था का ही नाम है।

आत्मोत्कर्ष में अभिरुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को उपासना को अपने नित्य क्रम में सम्मिलित करना ही चाहिये। यह नहीं सोचना चाहिये कि हम ईश्वरीय आदेशों का पालन करते हैं फिर

उपासना की क्या जरूरत। लुहार, बढ़ई, मूर्तिकार आदि शिल्पी अपने श्रम और प्रयोजन में लगे रहते हुए भी यह आवश्यक समझते हैं कि उनके औजारों पर जल्दी-जल्दी धार धरी जाती रहे। नाई अपने काम में ठीक तरह लगा रहता है पर उस्तरा तो उसे बार-बार तेज करना पड़ता है। मन ही वह औजार है जिससे क्रिया कलापों को ठीक तरह करते रह सकना सम्भव होता है। यदि भोंथरा होने लगे तो फिर कर्त्तृत्व का स्तर भी गिरने लगेगा। इसलिये जहाँ अन्य अनेक कार्यों में समय लगाया जाता है वहाँ मन की मलीनता को स्वच्छ करने और उसे प्रखर बनाने के प्रयास को भी नित्य का एक आवश्यक कर्त्तव्य माना जाना चाहिए। पेट की भूख बुझाने के लिये बार-बार भोजन करना पड़ता है। आत्मा की भूख बुझाने के लिये भी उसे उपासना का आहार बार-बार नित्य ही—दिया जाना आवश्यक है।

पुरुषार्थ की प्रखरता में उपासना अत्यधिक सहायक होती है, उसे समय नष्ट करने वाली बाधा नहीं माना जाना चाहिए। पारलौकिक पुरुषार्थों में अधिक उत्कृष्टता लाने के लिये अपने समय का एक अंश उपासना में नियत रूप से लगाना चाहिए। धुले कपड़े पर टिनोपाल लगा देने से—लोहा करने से और भी सुन्दरता आ जाती है। निर्मल और उज्ज्वल जीवन क्रम रहते हुये यदि उपासना का अवलम्बन ग्रहण किया जायेगा तो उसमें लगे हुए समय की कहीं अधिक सुन्दर सुव्यवस्था जीवन क्रम में विकसित होगी। शर्त यही है कि उपासना मात्र कर्मकाण्ड होकर न रह जाय उसमें भावना के समन्वय की प्राण प्रतिष्ठा अनिवार्य रूप से जुड़ी रहे।

हर विचारशील को समझाया जाय कि यह समय की बर्बादी नहीं वरन् उसके श्रेष्ठतम सदुपयोग की महत्वपूर्ण प्रक्रिया है।

अधिक प्रभावशाली साधनायें—तपश्चर्यायें अनेक हैं। उन्हें कार्यान्वित एवं फलित करने की सम्भावना तभी रहेगी जब प्रारम्भिक उपासनाक्रम ठीक से चलने जमने लगे। एक दम उछल कर चक्र वेधन, कुण्डलिनी जागरण, समाधि, ईश्वर दर्शन जैसे प्रसंगों के लिये

लालायित होना व्यर्थ है। यह उछलकर चढ़ने का नहीं क्रमिक रूप से मंजिल पार करने का राजमार्ग है। यदि ऐसा न होता तो स्वयं गुरुदेव को क्यों पैतालीस वर्ष पापड़ बेलने पड़ते और अब इस वृद्धावस्था में भी क्यों अपने को इस तरह धुनते। कोई जादू ही तुर्तफुर्त चमत्कार दिखा सकता है, पर यह ध्यान रखना चाहिए कि वह जल्दबाजी का जादू अस्थिर होता है। बाजीगर दस मिनट में झोली में से गुठली से आम का पौधा और उस पौधे पर फल लगा देता है पर यह छलावा भर होता है यदि वह बात वास्तविक होती तो बाजीगर पैसे-पैसे को हाथ न फैलाता—अब तक आमों का विशाल व्यापार करके लखपति करोड़पति बन गया होता। भले ही आप अपनी पूज़ा विधि के बाहरी स्वरूप को अपनी रुचि और परम्परा के अनुसार बनाये रहें पर उसमें भावना का प्राण अवश्य जोड़ें। अनेक मतान्तरों की पूजा प्रक्रिया भिन्न हो सकती है। पर उनके भीतर भावनात्मक तथ्य तो समुचित मात्रा में रहना ही चाहिये।

उपासना क्रम के अभ्यासियों को उच्चस्तरीय अनुदान भी साधना क्षेत्र में मिल सकते हैं। सम्भव है अगले दिनों उन्हें अपने तप अंश का कुछ प्रत्यावर्तन जीवन्त आत्माओं में करना पड़े इस बीज बोने का ठीक परिणाम निकले। इसके लिये यह आवश्यक है कि भूमि जोतने और उसमें नमी रखने का प्रयास पहले से ही चलता रहा हो। जो भूमि न जोती गई है—न जिसमें खाद पानी की मात्रा है उसमें बहुमूल्य बीज या पौधे का आरोपण भी निरर्थक चला जायगा। इसलिये आवश्यक है कि इस दिशा में प्रगति की सच्चे मन से आकांक्षा करने वाले अपने नित्य कर्म में उपासना की प्रक्रिया को सम्मलित करलें।

उपासनाएँ सफल क्यों नहीं होतीं?

उपासना देवी-देवताओं की की जाती है। स्वयं भगवान अथवा उनके समाज परिवार के देवी-देवता ही आमतौर से जन-

साधारण की उपासना के केन्द्र होते हैं। विश्वास यह किया जाता है कि पूजा, अर्चा, जप, स्तुति, दर्शन, भोग, प्रसाद आदि धर्म कृत्यों के माध्यम से भगवान अथवा देवताओं को प्रसन्न किया जा सकता है और जब वे प्रसन्न होते हैं तो उनसे इच्छानुसार वरदान प्राप्त करके अभीष्ट सुख सुविधाओं से लाभान्वित हुआ जा सकता है।

यह मान्यता कई बार सही साबित होती है कई बार गलत। प्राचीन काल के इतिहास पुराण देखने से पता चलता है कि कितने ही साधकों और तपस्वियों ने कठिन उपासनाएँ करके अद्‌भुत शक्तियाँ विभूतियाँ एवं उपलब्धियाँ प्राप्त कीं। स्वयं भी इतने समर्थ हुए कि दूसरों को अपनी साधना का एक अंश देकर वरदान आशीर्वाद से लाभान्वित कर सके। भारत ही नहीं संसार भर का पुराण ऐसी ही घटनाओं से भरा पड़ा है जिनमें चर्चा के प्रमुख पात्रों में से अधिकांश की सामर्थ्य और विशेषताएँ देव प्रदत्त थीं। ऋषियों, तपस्वियों, सन्तों के जीवन चरित्रों में— अधिकांश में ऐसे वर्णन मौजूद हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उनमें कितनी ही अलौकिक विशेषताएँ थीं और उन्हें, उनने तप साधना के द्वारा देवताओं से अथवा सीधे भगवान से पाया था। प्रामाणिक इतिहास में भी ऐसे अगणित प्रमाण विद्यमान हैं जिनमें साधना के फलस्वरूप अनेक व्यक्तियों ने अपने व्यक्तित्वों में ऐसी विशेषताएँ उत्पन्न कीं जो सर्व साधारण के लिये सम्भव या सुगम नहीं होतीं अभी भी ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं जो उपरोक्त तथ्य को अपने अद्‌भुत व्यक्तित्व या कर्त्तृत्व के द्वारा सही सिद्ध कर रहे हैं।

साथ-साथ यह भी देखने में आता है कि घर-बार छोड़कर— पूरा समय देवाराधन में लगाये हुये व्यक्ति साधना आरम्भ करने के बाद और भी अधिक गुजरी स्थिति में चले गये। न तो उनमें कोई प्रत्यक्ष विशेषता देखी गई न आत्मिक महत्ता। न उन्हें सुख प्राप्त था न शान्ति। स्वास्थ्य से लेकर सम्मान तक कोई भी सम्पदा उनके पास नहीं थी और न विवेक से आत्मबल तक कोई प्रतिभा विशेषता उपलब्ध हुई। वरन् जिस स्थिति में उन्होंने वह उपासनात्मक प्रक्रिया

अपनाई पीछे उनकी स्थिति हर प्रकार बिगड़ती ही चली गई। भौतिक सुख सम्पत्ति न सही आत्मिक शान्ति और विभूति का प्रकाश मिला होता तो भी सन्तोष किया जा सकता था पर वैसा भी कुछ वे प्राप्त न कर सके।

यह स्थिति स्वभावतः मन को असमंजस में डालती है। उसी प्रक्रिया का अवलम्बन करने से एक को लाभ एक को हानि ऐसा क्यों? एक को सिद्धि दूसरे के हाथ निराशा यह किसलिये? कैसे? वही देवता, वही मन्त्र वही विधि, एक की फलित एक की निष्फल इसका क्या कारण? यदि भगवान या देवता और उनकी उपासना अन्ध-विश्वास है तो फिर इससे कितने ही लाभान्वित क्यों होते हैं? यदि सत्य है तो उससे कितनों को ही निराश क्यों होना पड़ता है। जल हर किसी की प्यास बुझाता है, सूरज हर किसी को गर्मी रोशनी देता है फिर देवता और उनके उपासना क्रम में परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाएँ क्यों?

इस उलझन पर अनेक दृष्टियों से विचार करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि देवता या मन्त्रों में जितनी अलौकिकता दृष्टि-गोचर होती है, उनसे लाभान्वित हो सकने की पात्रता साधक में होना नितान्त आवश्यक है। मात्र उपासनात्मक कर्मकाण्डों की लकीर पीट लेना इस सन्दर्भ में अपर्याप्त है। तेज धार की तलवार में सिर काटने की क्षमता है इसमें संदेह नहीं पर वह क्षमता सही सिद्ध हो इसके लिये चलाने वाले का भुजबल, साहस एवं कौशल भी आवश्यक है। बिजली में सामर्थ्य की कमी नहीं पर उससे लाभान्वित होने के लिये उसी प्रकार के यन्त्र चाहिये। यन्त्र उपकरणों के अभाव में बिजली का उपयोग व्यर्थ ही होगा अनर्थ मूलक भी बन जाता है।

स्वाति के जल से मोती वाली सीपें ही लाभान्वित होती है। अमृत उसी को जीवन दे सकता है जिसका मुँह खुला हुआ है। प्रकाश का लाभ आँखों वाले ही उठा सकते हैं। इन पात्रताओं के अभाव में स्वाति का जल, अमृत अथवा प्रकाश कितना ही अधिक

क्यों न हो उससे लाभ नहीं उठाया जा सकता। ठीक यही बात देव उपासना के सम्बन्ध में लागू होती है। घृत सेवन का लाभ वही उठा सकता है जिसकी पाचन क्रिया ठीक हो। देवता और मन्त्रों का लाभ वे ही उठा पाते हैं जिन्होंने व्यक्तित्व को भीतर और बाहर से—विचार और आचार से परिष्कृत बनाने की साधना कर ली है। औषधि का लाभ उन्हें ही मिलता है जो बताये हुये अनुपात और पथ्य का भी ठीक तरह प्रयोग करते हैं। अत: पहले आत्म उपासना फिर देव उपासना की शिक्षा ब्रह्म विद्या के विद्यार्थियों को दी जाती रही है। लोग उतावली में मन्त्र और देवता के भगवान और भक्ति के पीछे पड़ जाते हैं इससे पहली आत्मशोधन की आवश्यकता पर ध्यान ही नहीं देते। फलत: उन्हें निराश ही होना पड़ता है। बादल कितना ही जल क्यों न बरसाये, उसमें से जिसके पास जितना बड़ा पात्र है उसे उतना ही मिलेगा। निरन्तर वर्षा होते रहने पर भी आँगन में रखे हुये पात्रों में उतना ही जल रह पाता है जितनी उनमें जगह होती है। अपने भीतर जगह को बढ़ाये बिना कोई बरतन बादलों से बड़ी मात्रा में जल प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकता देवता और मन्त्रों से लाभ उठाने के लिये भी पात्रता नितान्त आवश्यक है।

गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से—आचरण और चिंतन की दृष्टि से यदि मनुष्य उत्कृष्टता और आदर्शवादिता से अपने को सुसम्पन्न कर ले तो उनके कषाय कल्मषों की कालिमा हट सकती है और अन्त:करण तथा व्यक्तित्व शुद्ध, स्वच्छ, पवित्र एवं निर्मल बन सकता है। ऐसा व्यक्ति मन्त्र, उपासना, तपश्चर्या का समुचित लाभ उठा सकता है और देवताओं के अनुग्रह का अधिकारी बन सकता है। जब तक यह पात्रता न हो तब तक उत्कृष्ट वरदान माँगने की दूर-दर्शिता ही उत्पन्न न होगी और साधना के पुरुषार्थ से कुछ भौतिक लाभ भले मिल जाय, देवत्व का एक कण भी उसे प्राप्त न होगा और आसुरी भूमिका पर कोई सिद्धि मिल भी जाय तो अन्तत: उसके लिये घातक ही सिद्ध होगी। असुरों की साधना और उसके

आधार पर मिली हुई सिद्धियों से उनका अन्ततः सर्वनाश ही उत्पन्न हुआ। अध्यात्म विज्ञान का समुचित लाभ लेने के लिये साधक का अन्तःकरण एवम् व्यक्तित्व जितना निर्मल होगा, उतनी ही उसकी उपासना सफल होगी। धुले कपड़े पर रङ्ग आसानी से चढ़ता है मैले पर नहीं। स्वच्छ व्यक्तित्व सम्पन्न साधक किसी भी पूजा उपासना का आशाजनक लाभ सहज ही प्राप्त कर सकता है।

भगवान और देवता कहाँ है? किस स्थिति में है? उनकी शक्ति कितनी है। इस तथ्य का सही निष्कर्ष यह है कि यह दिव्य चेतन सत्ता निखिल विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और पग-पग पर उनके समक्ष जो अणुगति जैसी व्यस्तता के कार्य प्रस्तुत हैं उन्हें पूरा करने में संलग्न हैं। उनके समक्ष असंख्य कोटि प्राणियों की—जड़ चेतन की बहुमुखी गतिविधियों को संभालने का विशालकाय कार्य पड़ा है सो वे उसी में लगी रहती हैं। एक व्यवस्थित नियम और क्रम उन्हें इन ग्रह-नक्षत्रों की तरह कार्य संलग्न रखता है। व्यक्तिगत सम्पर्क में घनिष्टता रखना और किसी की भावनाओं के उतार चढ़ाव की बातों पर बहुत ध्यान देना उनके समग्र रूप से सम्भव नहीं। वे ऐसा करती तो हैं पर अपने एकअंश—प्रतिनिधि के द्वारा। दिव्य सत्ताओं ने हर मनुष्य के भीतर उसके स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों में—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष, आनन्दमय कोष जैसे आवरणों में अपना एक-एक अंश स्थापित किया हुआ है और यह अंश प्रतिनिधि ही उस व्यक्ति की इकाई को देखता सँभालता है। वरदान आदि की व्यवस्था इसी प्रतिनिधि द्वारा सम्पन्न होती है।

व्यक्ति की अपनी निष्ठा, श्रद्धा, भावना के अनुरूप यह देव अंश समर्थ बनते हैं और दुर्बल रहते हैं। एक साधक की निष्ठा में गहनता और व्यक्तित्व में प्रखरता हो तो उसका देवता समुचित पोषण पाकर अत्यन्त समर्थ दृष्टिगोचर होगा और साधक की आशाजनक सहायता करेगा। दूसरा साधक आत्मिक विशेषताओं से

रहित हो तो उसके अन्तरङ्ग में अवस्थित देव अंश पोषण के अभाव में भूखा, नङ्गा, रोगी, दुर्बल बनकर एक कोने में कराह रहा होगा। पूजा भी नकली दवा की तरह भावना रहित होने से उस देवता को परिपुष्ट न बना सकेगी और वह विधि पूर्वक मन्त्र जप आदि करते हुये भी समुचित लाभ न उठा सकेगा।

विराट् ब्रह्म कितना ही महान, क्यों न हो—व्यक्ति की इकाई में वह उस प्राणी की परिस्थिति में पड़ा हुआ लगभग उससे थोड़ा ही अच्छा बनकर रह रहा होगा। अन्तरात्मा की पुकार निश्चित रूप से ईश्वर की वाणी है पर वह हर अन्तःकरण में समान रूप में प्रबल नहीं होती। सज्जन के मस्तिष्क में मनोविकारों का एक झोंका घुस जाय तो भी उसकी अन्तरात्मा प्रबल प्रतिकार के लिये उठेगी और उसे ऐसी बुरी तरह धिक्कारेगी कि पश्चाताप ही नहीं प्रायश्चित किये बिना भी चैन न पड़ेगा। इसके विपरीत दूसरा व्यक्ति जो निरन्तर क्रूरकर्म ही करता रहता है उसकी अन्तरात्मा यदाकदा बहुत हलका सा प्रतिवाद ही करेगी और वह व्यक्ति उसे आसानी से उपेक्षित करता रहेगा। ईश्वर दोनों के हृदय में है दोनों की अन्तरात्मा की प्रकृति एक सी है—दोनों ही अपना कर्त्तव्य निबाहती हैं। पर दोनों की स्थिति सर्वथा भिन्न है। सज्जन ने सत्प्रवृत्तियों को पोषण देकर अपनी अन्तरात्मा को निर्मल बनाया है उसकी प्रबलता कभी शाप वरदान के चमत्कार भी प्रस्तुत कर सकती है। पर दूसरों ने अपनी आत्मा को निरन्तर पद-दलित करके उसे भूखा रखकर दुर्बल बना रखा है वह न तो प्रबल प्रतिरोध कर सकती है और न कभी उसके द्वारा ईश्वर की पुकार आदि की जाय तो उसका कुछ प्रतिफल निकल सकता है।

सर्वव्यापी, साक्षी, दृष्टा, नियन्ता, कर्ता, हर्ता, सत चित आनन्द आदि विभूतियों से सम्पन्न विराट् ब्रह्म है। देव शक्तियाँ भी अपनी सीमित परिधि के अनुरूप निखिल ब्रह्माण्ड में संव्याप्त और निर्धारित प्रयोजनों में तत्पर हैं। उन विराट् सत्ताओं की उपासना सम्भव नहीं।

उपासना के लिये प्रत्येक व्यक्ति के भीतर एक छोटा सा प्रतिनिधि उनका मौजूद है। साधक और तपस्वी अपनी निष्ठा के अनुरूप उसका पोषण करते—समर्थ बनाते और लाभ उठाते हैं। एक ग्वाले की गाय स्वस्थ, सुन्दर और बहुत दूध देती है दूसरे की ठीक वैसी ही होने पर भी दुबली रुग्ण और कम दूध देती है। इसका कारण उन दोनों ग्वालों की गौ सेवा में न्यूनाधिकता का होना ही है। अपने अन्तरंग में अवस्थित देवता को—भगवान को अपनी आस्था निष्ठ, पवित्रता आदि विशेषताओं के द्वारा समर्थ बनाया जाता है। इसके उपरान्त ही पूजा उपासना रूपी बाल्टी में दूध दुहने की बात बनती है।

रामकृष्ण परमहंस की काली ने विवेकानन्द को आत्म शक्ति से सम्पन्न बनाकर उन्हें महामानवों की पंक्ति में ला खड़ा किया। दूसरे तांत्रिक, अघोरी, कापालिक, ओझा, उसी काली देवी से झाड़ फूँक के छुटपुट प्रयोजन ही पूरे कर पाते हैं। विराट् महाकाली एक है। पर रामकृष्ण परमहंस के अन्तरंग में परिपोषित काली अंश की क्षमता उनके अनुरूप थी और ओझा अघोरी लोगों की काली बहुत दुर्बल और ओछे किस्म की होती है। अर्जुन के कृष्ण की सामर्थ्य अलग थी। मीरा, सूर के कृष्ण अलग थे और रासलीला करने वालों के—पुजारियों के कृष्ण अलग हैं। आकृति प्रतिमा दोनों की एक सी हो सकती है पर सामर्थ्य में असाधारण अन्तर होगा। यह अन्तर उन साधकों की आन्तरिक स्थिति के कारण विनिर्मित हुआ होता है।

इस तथ्य को समझने में हमें असमंजस और भ्रम में पड़ना पड़ेगा, निराशा हाथ लगेगी और सम्भव है तब उपेक्षा ही नहीं नास्तिकता भी सामने आ खड़ी हो। उसी विधान से एक व्यक्ति आश्चर्यजनक प्रतिफल प्राप्त करता है और ठीक उसी रीति नीति को अपनाकर दूसरा व्यक्ति सर्वथा निराश असफल रहता है। इसमें न विधि विधान को दोष दिया जाना चाहिये और न देवता की निष्ठुरता या भाग्य को कोसा जाना चाहिए। तथ्य यही है कि हमने अपने इष्ट देव को इतना परिपुष्ट नहीं बनाया कि वे हमारी प्रार्थना के अनुरूप उठ खड़े होने

और सहायता कर सकने में समर्थ होते। द्रोपदी के कृष्ण अलग थे वे एक पुकार सुनते ही दौड़कर आये। हमारे कृष्ण अलग हैं वे लगभग लंघन में पड़े रोगी की तरह हैं पुकार सुनने और सहायता के लिये खड़े होने की सामर्थ्य उनके हाथ पैरों में है नहीं फिर वे प्रार्थना का क्या उत्तर दें।

अध्यात्म विद्या के तत्व दर्शियों ने इस तथ्य को छिपाया नहीं है। उन्होंने सदा यह कहा है कि इस विराट् ब्रह्म में जो कुछ दिव्य महान् पवित्र प्रखर है उसका एक अंश हर व्यक्ति के भीतर विद्यमान है। जो चाहे उसे ठीक तरह सँजोये सँभालने में लग सकता है और उन मणि मुक्ताओं से अपने जीवन भाण्डागार को भरा पूरा कर सकता है। उपेक्षा करने अथवा दुर्गति करने से वे निरर्थक ही बनकर रह जायेंगे। हर किसी के मस्तिष्क में गणेश विद्यमान हैं जो बुद्धि विकास की साधना करके अपने गणेश को परिपुष्ट बना लेगा वह विद्वान् बनकर अनेक विभूतियों के वरदान प्राप्त करेगा। जो अपने गणेश की जड़ों में पानी नहीं देगा उनके विनायक भगवान सूखे मूर्च्छित एक कोने में पड़े होंगे। लड्डू, खीर खिलाने, स्तोत्र पाठ करने पर भी वे कुछ सहायता न कर सकेंगे। बुद्धिमान् और विद्वान् बन सकना सम्भव न होगा। हर किसी की भुजाओं मे हनुमान का निवास है। व्यायाम करने वाले संयमी ब्रह्मचारी लोग बजरङ्गबली के भक्त प्रमाणित हो सकते हैं पर जिनने अपने असंयमी और भ्रष्ट आचरण से हनुमान जी को पीड़ित प्रताड़ित करने में कमी नहीं छोड़ी, उनका चालीसा पाठ कुछ ज्यादा कारगर नहीं होगा वे आरोग्य और बलिष्ठता का वरदान अपने रुग्ण हनुमान से कैसे प्राप्त कर सकेंगे?

बालबुद्धि, उतावले और अदूरदर्शी लोग ही उपासना को जादूगरी, बाजीगरी जैसी कोई चीज मानकर चलते हैं। उनकी कल्पना किन्हीं ऐसे देवताओं की होती है जो स्तुति, जप, पूजा, प्रसाद के तनिक से प्रलोभन पर ललचाये जा सकते हैं और उनसे इन नगण्य उपहारों के बदले मन चाहे लाभ उठाये जा सकते हैं। अधिकांश

पूजा, उपासना में संलग्न लोगों की मनोभूमि बच्चों जैसे स्तर की होती है। वे विधि विधानों, कर्मकाण्डों या उपहारों का तानाबाना बुनते रहते हैं और उसी टंटघंट से अपना उल्लू सीधा करने की तरकीबें भिड़ाते रहते हैं। तथाकथित भक्तों की मण्डली इसी स्तर की होती है वे तिलक छापे लगाकर अपनी भक्ति का प्रमाण भगवान के सामने प्रस्तुत करते हैं या कुछ और खेल खड़ा करके भगवान की आँखों में धूलि झोंककर अपने असली स्वरूप को छिपाते हुए भक्त को मिलने वाले लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। वस्तुतः न भगवान इतने भोले हैं न कोई मन्त्र ऐसा है जिसे कुछ बार जप, रटकर मनचाहा लाभ उठाया जा सके। उपासना का एक सर्वाङ्गपूर्ण विज्ञान है। अध्यात्म विद्या को एक समग्र साइंस ही कहना चाहिये। उसके नियम और प्रयोजनों को समझ कर-तदनुकूल चलने से ही लाभान्वित हुआ जा सकता है। यदि यह तथ्य लोगों ने समझा होता तो अध्यात्म मार्ग की देहरी पर पैर रखते ही पहला प्रयोग अपने अन्तरङ्ग में मूर्छित, पद दलित, विभुक्षित, मलिन पड़े हुए इष्टदेव को सँभालने सँजोने का प्रयत्न किया होता। उन्हें समर्थ और बलवान बनाया होता। इस प्रथम प्रयोजन को पूरा करने के बाद मन्त्र, जप, उपासना, पूजा स्तोत्र आदि का चमत्कार देखने का दूसरा कदम उठाया गया होता तो निस्सन्देह हर उपासक को आशाजनक सफलता मिली होती और किसी को भी निराश होने अविश्वासी बनने या असमंजस में पड़ने का अवसर न आता।

'उपासना' की सफलता 'साधना' पर निर्भर है

आत्मिक प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ा व्यवधान उन कुसंस्कारों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है जो दुर्भावों और दुष्कर्मों के रूप में मनोभूमि पर छाये रहते हैं। आकाश में बादल छाये हों तो फिर मध्यान्ह काल का सूर्य यथावत् उदय रहते हुए भी अन्धकार ही छाया रहेगा। जप-तप करते हुए भी आध्यात्मिक सफलता न मिलने का कारण एक ही है-मनोभूमि का कुसंस्कारी होना। साधना का

थोड़ा-सा गङ्गाजल इस गन्दे नाले में गिरकर अपनी महत्ता खो बैठता है-नाले को शुद्ध कर सकना सम्भव नहीं होता बेशक तीव्र गङ्गा प्रवाह में थोड़ी-सी गन्दगी भी शुद्धता में परिणत हो जाती है। पर साथ ही यह भी सच है कि सँड़ाद भरी गन्दी गटर को थोड़ा सा गङ्गाजल शुद्ध कर सकने में असमर्थ-असफल रहेगा।

साधना की अपनी महिमा और महत्ता है उसे गङ्गाजल से कम नहीं अधिक ही महत्व दिया जा सकता है पर साथ ही साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि वह सर्व समर्थ नहीं है। गङ्गाजल से बनी हुई मदिरा अथवा गंगा जल में पकाया हुआ माँस नहीं गिने जायेंगे। शौचालय में प्रयुक्त होने के उपरान्त गङ्गा का जल भरा पात्र देव प्रतिमा पर चढ़ाने योग्य न रहेगा। गङ्गा जल की शास्त्र प्रतिपादित महत्ता यथावत् बनी रहे इसके लिये यह नितान्त आवश्यक है कि उसके संग्रह, उपकरण एवं स्थान की पवित्रता भी अक्षुण्य बनी रहे।

रङ्गरेज कपड़ा रङ्गने की प्रक्रिया उसकी धुलाई से आरम्भ करता है। यदि मैला कपड़ा रङ्गने के लिये दिया जाय तो पहले उसे धोवेगा। धुले हुए कपड़े पर ही रङ्ग चढ़ना या चढ़ाया जाना सम्भव होता है। उपासना को रँगाई कह सकते हैं और साधना को धुलाई। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। इनमें प्रधान और गौण का वर्गीकरण करना हो तो साधना को प्रधान और उपासना को गौण मानना पड़ेगा। धुला वस्त्र बिना रंगे भी अपनी गरिमा बनाये रह सकता है पर मैला वस्त्र रङ्ग को बर्बाद करेगा और रंगरेज को बदनाम। स्वयं तो उपहासास्पद बना ही रहेगा। मैले कपड़े पर रङ्ग चढ़ाने की सूझबूझ भी भोंड़ी ही मानी जायेगी इस प्रकार का किया गया श्रम भी सार्थक न रहेगा।

आत्मिक प्रगति के पथिक आमतौर से यही भूल करते रहते हैं और असफलता का दोष उस पुण्य प्रक्रिया को देते हैं जिसे सही ढङ्ग से अपनाने वाले सदा कृतकृत्य होते हैं। वस्तुतः वह भूल पथिकों की नहीं उनके मार्गदर्शकों की है जिन्होंने बहुमूल्य मँहगी वस्तु को सस्ती बताकर लोगों को आकर्षित करने भर का ध्यान रखा

और यह भूल गये कि अभीष्ट प्रतिफल न मिलने पर जो निराशा और अविश्वास भरी प्रतिक्रिया उत्पन्न होगी उसका क्या परिणाम होगा। सस्ते प्रलोभनों से भ्रमाया व्यक्ति आरम्भ से अति उत्साहित हो सकता है पर उसकी निराशाजनक प्रतिक्रिया नास्तिकता के रूप में ही परिणत होकर रहेगी।

अध्यात्म तत्वज्ञान के मूल आधार से अपरिचित किन्तु उसकी ध्वजा उड़ाने वाले तथाकथित 'गुरु' लोग ओंधी सीधी पुस्तकें रचकर यह मिथ्या मान्यता फैलाते रहे हैं कि अमुक पूजा अर्चा करने से उन्हें पाप फल के दण्ड भुगतने की छूट मिल जायेगी। यह प्रतिपादन लोगों को बहुत ही आकर्षक लगता है। क्योंकि अनाचार अपनाने वाले प्रत्यक्षतः सदाचार परायण लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक भौतिक सुख सुविधायें प्राप्त कर लेते हैं। छल-छद्म का परिणाम अन्ततः बुरा ही क्योंन्म हो पर तत्काल तो उन हथकण्डों से लाभ मिल ही जाता है। पाप-पथ अपनाने वाले असुर—देवताओं से अधिक बलिष्ठ रहे हैं यह स्पष्ट है। पीछे भले ही उनकी दुर्गति हुई हो पर आरम्भिक लाभ तो इन्हें ही मिलता है। देवत्व प्राप्ति का आरम्भिक कार्य तप साधना की कष्ट कर प्रक्रिया से आरम्भ होता है। लम्बी दूरी तक उस मार्ग पर चलने के बाद ही देव पुरुष आनन्द उल्लास प्राप्त करते हैं। ऐसी दशा में तात्कालिक लाभ को प्रधानता देने वाले—अदूरदर्शी लोग कुमार्ग गामिता के सहारे तुरन्त लाभान्वित होने की रीति-नीति अपनाते हैं, पर उन्हें यह खटका बना रहता है कि कभी न कभी इन कुकर्मों का कष्टकारक प्रतिफल भोगना पड़ेगा।

इस चिन्ता से तथाकथित धर्म गुरूओं के रचे भोंड़े फूहड़ ग्रन्थ मुक्ति दिला देते हैं। उनका कहना है अमुक माला जपने वाले या अमुक पूजा अर्चा करने वाले को पाप कर्मों के दण्ड भुगतने से छुटकारा मिल जाता है। यह बहुत बड़ी बात है। यदि दण्ड का भय न रहे तो फिर पाप कर्मों द्वारा प्राप्त हो सकने वाले लाभों को छोड़ने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। इस प्रकार उपरोक्त आश्वासनों पर

विश्वास करने वाले यह मान बैठते हैं कि उनके पाप कट गये। अब वे कुकर्मों के दण्ड से पूर्णतया छुटकारा पा चुके। भूतकाल में किये हुए या भविष्य में किये जाने वाले पापों के दण्ड से वह देवता या मन्त्र बचा लेगा जिसे थोड़ा-सा जप, स्तवन, पूजन आदि करके या किसी दूसरे से कराके सहज ही बहकाया, फुसलाया और अनुकूल बनाया जा सकता है।

इस मिथ्या मान्यता का आज बहुत प्रचलन है। हर कोई इसी सस्ते नुस्खे को दुहराता है। मतवादी यही ढोल पीटते हैं कि हमारे सम्प्रदाय में भर्ती हो जाने पर हमारा खुदा सारे गुनाह माफ कर देगा। इस बहकावे में आये बाहर से बताये हुए कर्मकाण्ड करते रहते हैं और भीतर से पाप कर्मों में निर्भय होकर प्रवृत्त रहते हैं। धर्म की नीव पर प्रस्तुत की गयी मिथ्या मान्यताओं ने आज सर्वत्र यही स्थिति उत्पन्न कर दी है और सच्चा विश्लेषण करने पर पूजा-पाठ न करने वालों की अपेक्षा उस प्रक्रिया में निरत लोग अधिक अनैतिक और अवांछनीय गतिविधियों में प्रवृत्त पाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में आत्मिक प्रगति सर्वथा असम्भव है। जब साधना का प्रथम चरण ही पूरा नहीं किया गया तो उपासना का दूसरा कैसे उठेगा। जब पहली मंजिल ही बनकर तैयार नहीं हुई तो भवन की दूसरी मंजिल बनाने की योजना कैसे पूर्ण होगी।

उपासना से पाप नष्ट होने का वास्तविक अर्थ यह है कि ऐसा व्यक्ति जीवन साधना के प्रथम चरण का परिपालन करते हुए दुर्भावनाओं दुष्प्रवृत्तियों के दुष्परिणाम समझेगा और उनसे सतर्कता पूर्वक विरत हो जायेगा, पाप नष्ट होने का अर्थ है पापकर्म करने की प्रवृत्ति का नाश, पर उल्टा अर्थ कर दिया गया पाप कर्मों के प्रतिफल का नाश। कदाचित ऐसी उलट वासी सही होती तो फिर इस संसार में पाप को ही पुण्य और कर्त्तव्य माना जाने लगता। फिर कोई भी पाप से न डरता। राजदण्ड से बचने की हजार तरकीबें हैं। उन्हें अपना कर अनाचारी लोग सहज ही निर्द्वन्द निश्चिन्त रह सकते हैं दैव

दण्ड ही एक मात्र बंधन था सो इन धर्मध्वजियों ने उड़ा दिया। अब असुरता को स्वच्छन्द रूप से फलने फूलने और फैलाने का पूरा अवसर मिल गया। पाप कर्मों के दण्ड से मुक्ति दिलाने का आश्वासन पूजा-पाठ की कीमत पर जिनने भी दिया है उनने मानवीय आदर्शों और अध्यात्म के मूलभूत आधारों के साथ व्यभिचार किया है।

पाप और पुण्य का, उचित और अनुचित का अन्तर उनका दंड-पुरस्कार ही मानव-समाज के भौतिक मेरुदंड को सीधा रखे हुए है। यदि उसे ही तोड़ दिया जाय तो फिर व्यक्ति और समाज की आचार संहिता का ईश्वर ही रक्षक है। पूजा उपासना का प्रयोजन मनुष्य को ईश्वर-विश्वासी अर्थात् धर्म मर्यादाओं का पालन करने के लिए व्रत-बन्ध धारण किये रहने वाला है। यदि पूजा पाप-दंड से मुक्ति दिलाती है तो फिर यही कहना पड़ेगा कि वह नैतिक, मानवीय धार्मिक और आत्मिक मूलभूत आधारों को ही नष्ट करेगी। ऐसी दशा में यह पूजा वस्तुतः नास्तिकता से भी मँहगी पड़ेगी, पिछले दिनों वही हुआ है यही बताया सिखाया गया है। कथा-वार्ताओं में हम यही सुनते पढ़ते हैं, गुरु लोगों के पास यही सबसे बड़ा आकर्षण अपने मत के पक्ष में है। भोले लोग सस्ते मोल में परमदंड की बहुत विपत्ति से बचने के लिए फँसते हैं और दुहरी हानि भुगतते हैं। ईश्वरीय अकाट्य नियम इतने सरल नहीं हैं कि तनिक सी पूजा से छुई-मुई होकर सूख जायें। वे अत्यन्त कठोर हैं। विश्व का कण-कण उनकी पकड़ में जकड़ा है। ईश्वर को कोई पूजे या गाली दे विश्व-व्यवस्था कर्मफल की अपरिहार्य प्रक्रिया में तनिक भी ढील करने वाली नहीं है। ऐसी दशा में पूजा जिस प्रलोभन से की गई थी, ईश्वर की प्रसन्नता की जिस आधार पर आशा बाँधी गई थी, वह बालू के महल की तरह ढह जाता है।

उपासना की असफलता का एक मात्र कारण है आत्मिक प्रगति की पहली मंजिल 'साधना' की उपेक्षा। गुण-कर्म स्वभाव का परिष्कार साधना का मूलभूत उद्देश्य है। उसका स्वरूप है आत्म-

बोध, आत्म-चिन्तन, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण, आत्म-विकास। यही आत्म देव का सच्चा पंचोपचार पूजन है। जो उसे कर सकता है उसी की पूजा उपासना सफल होती है। निराकार, निर्विकार परमेश्वर की साकार प्रतिमा उपासना को व्यावहारिक रूप देने के लिए बनाई जाती है। इसी प्रकार जल, दीप, नैवेद्य, पुष्प, चन्दन के पंच विधि पूजा उपकरण प्रयुक्त किये जाते हैं। इस देवार्पण के पीछे जीवन साधना की ओर इंगित करने वाला गहरा तत्वज्ञान सन्निहित है। उसे यदि न समझा जाय और मात्र उपासनात्मक कर्मकाण्डों को ही सब कुछ मान लिया जाय तो यही कहना पड़ेगा कि यथार्थता को भुला कर विडम्बना की उलझन में पैर फँसा दिया गया।

उपासना की पूर्व भूमिका जीवन साधना से आरम्भ होती है। तपश्चर्या का प्रयोजन मनोभूमि पर छाये हुए कुसंस्कारों का निराकरण है। एक बार समझ लेना चाहिए कि साधना सर्फ पॉउडर है और उपासना 'टिनोपाल' कपड़े को जर्क-वर्क धुला हुआ बनाना हो तो दोनों का उपयोग करना चाहिए। कपड़े को सर्फ में धोकर मल रहित करना चाहिए और तदनन्तर 'टिनोपाल' की नीली झलक देनी चाहिए। यह भूल नहीं करनी चाहिए कि धोने में बहुत झंझट समझ कर उसे उपेक्षित विस्मृत कर दिया जाय और मात्र टिनोपाल के छींटे लगाकर चमचमाते वस्त्र पहनने की आशा रखी जाय।

आत्मिक प्रगति के लिए उपासना का अपना महत्व है। जप आवश्यक है। आसन, प्राणायाम क्रिया, प्रत्याहार,धारणा, ध्यान, समाधि की छै मंजली इमारत बनानी ही चाहिए पर उससे यह नियम का ईंट चूना नींव में गहराई तक भर के नींव पक्की कर लेनी चाहिए। मंत्रविद्या का महात्म्य बहुत है। योग साधना की गरिमा गगन चुम्बी है विविध-विधि उपासनायें चमत्कारी परिणाम उत्पन्न करती हैं। ऋद्धि-सिद्धियों की चर्चा काल्पनिक नहीं है, पर वह सारा आकर्षण विवरण, कथासार आकाश कुसम ही बना रहेगा जब तक साधना की पृष्ठभूमि को अनिवार्य मान कर न चला जायेगा।

ओछी मनोभूमि के व्यक्ति यदि किसी प्रकार किसी तन्त्र विधि से कुछ लाभ वरदान प्राप्त भी करलें तो भी वह अन्ततः उनके लिए विपत्ति ही सिद्ध होगी। आमाशय में अर्बुद और आंतों में व्रण से संत्रस्त रोगी यदि मिष्ठान्न पकवान खा भी ले तो उसके लिए वे बहुमूल्य और पौष्टिक होते हुए भी कुछ लाभ न पहुँचा सकेंगे। जबकि पेट के स्वस्थ सबल होने पर ज्वार, बाजरा भी पुष्टि कर सिद्ध होते हैं। रहस्यमय अनुष्ठान साधनों की मन्त्र प्रक्रिया एवं साधना विधि की गरिमा इन पंक्तियों में कम नहीं की जा रही है और न उनका महात्म्य मिथ्या बताया जा रहा है। यहाँ केवल यह कहा जा रहा है कि आत्मिक प्रगति के क्षेत्र में जीवन साधना को आधार भूत मानना चाहिए और उपासना को उसकी सुसज्जा। बाल्यकाल पूरा करने के बाद ही यौवन आता है और साधना की प्रथम परीक्षा में उत्तीर्ण होने से ही उपासना की द्वितीय कक्षा में प्रवेश मिलता है।

अच्छी उपज लेने के लिए केवल अच्छा बीज ही पर्याप्त नहीं, अच्छी भूमि भी होनी चाहिए। पूजा विधान बीज है और साधक की मनोभूमि खेत। किसान भूमि जोतने, सींचने संभालने में छै महीने लगाता है और बीज बोने में एक दिन। अन्तःकरण निर्मल बना लिया जाय तो थोड़ा सा मन्त्र साधन भी शबरी जैसे अनजान साधकों को भी सफलता के चरम लक्ष्य तक पहुँचा सकता है। इसके विपरीत कर्म-काण्ड में पारंगत कठोर प्रयत्न रत होने पर भी मिली हुई सफलता उल्टी विनाशकारी होती है। दूषित मनोवृत्ति बनाये रहने के कारण रावण, कुम्भकरण, मेघनाथ, हिरण्यकश्यप, भस्मासुर आदि को दुर्गति के गर्त में गिरना पड़ा। वह तप तथा वरदान उनके अहंकार और अनाचार को बढ़ाने में—सर्प को दूध पिलाने की तरह अनर्थ मूलक ही सिद्ध हुए।

उपासना कारतूस है और जीवन साधना बन्दूक। अच्छी बन्दूक होने पर ही कारतूस का चमत्कार देखा जा सकता है। बन्दूक रहित अकेला कारतूस तो थोड़ी आवाज करके फट ही सकता है

उससे सिंह व्याघ्र का शिकार नहीं किया जा सकता। अनैतिक गतिविधियाँ और अवांछनीय विचारणायें यदि भरी रहें तो कोई साधक आत्मिक प्रगति का वास्तविक और चिरस्थायी लाभ न ले सकेगा। किसी प्रकार कुछ मिल भी जाय तो उससे जादूगरी जैसा चमत्कार दिखा कर थोड़े दिन यश लिप्सा पूरी की जा सकती है। वास्तविक लाभ न अपना हो सकता है और न दूसरों का।

अस्तु आत्मबल से संबन्धित सिद्धियाँ और आत्म-कल्याण के साथ जुड़ी हुई विभूतियाँ प्राप्त करने के लिये जो वस्तुतः निष्ठावान् हों उन्हें अपने गुण-कर्म स्वभाव पर गहरी दृष्टि डालनी चाहिए और जहाँ कहीं छिद्र हों उन्हें बन्द करना चाहिए। फूटे हुए बर्तन और दुश्चरित्र व्यक्ति इन छिद्रों में अपना सारा उपासनात्मक उपार्जन गँवा बैठता है और उसे छूँछ बनकर खाली हाथ रहना पड़ता है।

हर दिन नया जन्म हर रात नई मौत वाली साधना इस दृष्टि से अति उपयोगी सिद्ध होती है। प्रातःकाल उठते ही यह अनुभव करना कि अब से लेकर सोते समय तक के लिये ही आज का नया जन्म मिला है। इसके एक एक क्षण का सदुपयोग करना है। इस आधार पर दिनभर की पूरी दिनचर्या निर्धारित कर ली जाय। समय जैसी बहुमूल्य सम्पदा का एक कण भी बर्बाद होने की उसमें गुञ्जायश न रहे। एक भी अनाचार बन पड़ने की ढील न रखी जाय। निकृष्ट स्तर पर सोचने और हेय कर्म करने पर पूरा प्रतिबन्ध लगाया जाय। इस प्रकार नित्य कर्म से लेकर आजीविका उपार्जन तक संभाषण से लेकर कर्तृत्व तक जीवन के हर क्षेत्र में उत्कृष्टता और आदर्शवादिता का समावेश किया जाय। रात को सोते समय लेखा जोखा लिया जाय कि आज उत्कृष्टता और निकृष्टता में से किस का उपार्जन ज्यादा हुआ। पाप अधिक बना या पुण्य। भूलें प्रबल रहीं या सतर्कता जीती। इस प्रकार आत्म निरीक्षण करने के उपरान्त दूसरे दिन और भी अधिक सतर्क रहने और भी उत्तम दिनचर्या बनाने की तैयारी करते हुए निद्रा माता को मृत्यु समझ कर उसकी गोद में

शान्ति-पूर्वक जाना चाहिए। यह क्रम निरन्तर जारी रखा जाय तो जीवन में क्रमशः अधिकाधिक पवित्रता का समावेश होता चला जाता है और तदनुरूप आत्मिक प्रगति तीव्र होती चली जाती है।

प्रार्थना का स्वरूप स्तर और प्रभाव

प्रार्थना ईश्वर के बहाने अपने आप से ही की जाती है। ईश्वर सर्व-व्यापी और परम दयालु है, उसे हर किसी की आवश्यकता तथा इच्छा की जानकारी है। वह परम पिता और परम दयालु होने के नाते हमारे मनोरथ पूरे भी करना चाहता है। कोई सामान्य स्तर का सामान्य दयालु पिता भी अपने बच्चों की इच्छा आवश्यकता पूरी करने के लिये उत्सुक एवं तत्पर रहता है। फिर परम पिता और परम दयालु होने पर वह क्यों हमारी आवश्यकता को जानेगा नहीं। वह कहने पर ही हमारी बात जाने और प्रार्थना करने पर ही कठिनाई को समझे, यह तो ईश्वर के स्तर को गिराने वाली बात हुई। जब वह कीड़े-मकोड़ों और पशु-पक्षियों की अयाचित आवश्यकता भी पूरी करता है। तब अपने परम प्रिय युवराज मनुष्य का ध्यान क्यों न रखेगा? वस्तुतः प्रार्थना का अर्थ याचना है ही नहीं। याचना अपने आपमें हेय है क्योंकि वह दीनता, असमर्थता और परावलम्बन की प्रवृत्ति उसमें जुड़ी हुई है जो आत्मा का गौरव बढ़ाती नहीं घटाती ही है। चाहे व्यक्ति के सामने हाथ पसारा जाय या भगवान के सामने झोली फैलाई जाय, बात एक ही है। चाहे चोरी किसी मनुष्य के घर में की जाय चाहे भगवान के घर मन्दिर में—बुरी बात तो बुरी ही रहेगी। स्वावलम्बन और स्वाभिमान को आघात पहुँचाने वाली प्रक्रिया—चाहे उसका नाम प्रार्थना ही क्यों न हो मनुष्य जैसे समर्थ तत्व के लिये शोभा नहीं देती।

वस्तुतः प्रार्थना का प्रयोजन अपने आत्मा को ही परमात्मा का प्रतीक मानकर स्वयं को समझाना है कि वह इसका पात्र बने कि आवश्यक विभूतियाँ उसे उसकी योग्यता के अनुरूप सहज ही

मिल सकें। यह अपने मन की खुशामद है। मन को मनाना है। आपे को बुहारना है। आत्म-जागरण है। आत्मा से प्रार्थना द्वारा कहा जाता है, हे शक्ति पुंज तू जागृत क्यों नहीं होता अपने गुण, कर्म स्वभाव को प्रगति के पथ पर अग्रसर क्यों नहीं करता। तू सँभल जाय तो सारी दुनियां सँभल जाय। तू निर्मल बने तो सारे संसार की निर्मलता खिंचती हुई अपने पास चली आये। अपनी सामर्थ्य का विकास करने में तत्पर और उपलब्धियों का सदुपयोग करने में संलग्न हो जाय तो दीन-हीन अभावग्रस्तों की पंक्ति में क्यों बैठना पड़े। फिर समर्थ और दानी देवताओं से अपना स्थान नीचा क्यों रहे।

प्रार्थना के माध्यम से हम विश्वव्यापी महानता के साथ अपना घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करते हैं। आदर्शों को भगवान की दिव्य अभिव्यक्ति के रूप में अनुभव करते हैं और उसके साथ जुड़ जाने की भाव विह्वलता को सजग करते हैं। तमसाच्छन्न मनोभूमि में अज्ञान और आलस्य ने जड़ जमा ली है। आत्म-विस्मृति ने अपना स्वरूप एवं स्तर ही बना लिया है। जीवन में संव्याप्त इस कुत्सा और कुण्ठा का निराकरण करने के लिए अपने प्रसुप्त अन्तःकरण से प्रार्थना की जाय कि यदि तन्द्रा और मूर्छा छोड़कर तू सजग हो जाय और मनुष्य को जो सोचना चाहिए वह सोचने लगे, जो करना चाहिए सो करने लगे तो अपना बेड़ा ही पार हो जाय। अन्तःज्योति की एक किरण उग पड़े तो पग-पग पर ठोकर लगने के निमित्त बने हुए इस अन्धकार से छुटकारा ही मिल जाय जिसने शोक-संताप की विडम्बनाओं को सब ओर से आवृत्त कर रखा है।

परमेश्वर यों साक्षी, दृष्टा, नियामक, उत्पादक, संचालक सब कुछ है। पर उसके जिस अंश की हम उपासना प्रार्थना करते हैं वह सर्वात्मा एवम् पवित्रात्मा ही समझा जाना चाहिए। व्यक्तिगत परिधि को संकीर्ण रखने और पेट तथा प्रजनन के लिये ही सीमाबद्ध रखने वाली वासना तृष्णा भरी मूढ़ता को ही माया कहते हैं। इस भव बन्धन से मोह, ममता से छुड़ाकर आत्म-विस्तार के क्षेत्र को व्यापक

बना लेना यही आत्मोद्धार है। इसी को आत्म-साक्षात्कार कहते हैं। प्रार्थना में अपने उच्च आत्म-स्तर से परमात्मा से यही प्रार्थना की जाती है कि वह अनुग्रह करे और प्रकाश की ऐसी किरण प्रदान करे जिससे सर्वत्र दीख पड़ने वाला अन्धकार—दिव्य प्रकाश के रूप में परिणत हो सके।

लघुता को विशालता में—तुच्छता को महानता में समर्पित कर देने की उत्कण्ठा का नाम प्रार्थना है। नर को नारायण—पुरुष को पुरुषोत्तम बनाने का सङ्कल्प प्रार्थना कहलाता है। आत्मा को आबद्ध करने वाली संकीर्णता जब विशाल व्यापक बनकर परमात्मा के रूप में प्रकट होती है तब समझना चाहिए प्रार्थना का प्रभाव दीख पड़ा, नर-पशु के स्तर से ऊँचा उठकर जब मनुष्य देवत्व की ओर अग्रसर होने लगे तो उसे प्रार्थना की गहराई का प्रतीक और चमत्कार माना जा सकता है। आत्म-समर्पण को प्रार्थना का आवश्यक अंग माना गया है। किसी के होकर ही हम किसी से कुछ प्राप्त कर सकते हैं। अपने को समर्पण करना ही ईश्वर के हमारे प्रति समर्पित होने की विवशता का एक मात्र तरीका है। 'शरणागति' भक्ति का प्रधान लक्षण माना गया है। गीता में भगवान ने आश्वासन दिया है कि जो सच्चे मन से मेरी शरण में आता है उनके योग क्षेम की—सुख-शान्ति और प्रगति की जिम्मेदारी मैं उठाता हूँ। सच्चे मन और झूठे मन की शरणागति का अन्तर स्पष्ट है। प्रार्थना के समय तन, मन, धन सब कुछ भगवान के चरणों में समर्पित करने की लच्छेदार भाषा का उपयोग करना और जब वैसा करने का अवसर आवे तो पल्ला झाड़कर अलग हो जाना झूठे मन की प्रार्थना है। आज इसी का फैशन है। जिस तरह व्यभिचारी किसी भोली लड़की को फँसाने के लिये लम्बे-चौड़े सब्ज-बाग दिखाता है और यह जानते हुए भी कि यह आश्वासन मुझे पूरे करने नहीं हैं, बड़े-बड़े विश्वास दिलाता है, कसमें खाता है। उसी प्रकार झूठे मन से की हुई प्रार्थना ईश्वर को ठगने बहकाने के लिए होती है। समर्पण शरणागति जैसे दिव्य स्तर

के अर्थ समझता होगा वह इतना भी जानता होगा कि उसका तात्पर्य अपनी लिप्साओं को भगवान की इच्छाओं में परिणित कर देने— गति-विधियों को तृष्णा, वासना के चंगुल से छुड़ाकर ईश्वर की इच्छानुसार उत्कृष्ट विचारणा तथा आदर्शवादी क्रिया पद्धति से अपने वर्तमान ढाँचे को बदलना ही होता है। जो इसके लिये तैयार होकर समर्पण शरणागति की बात करे उसी को सच्चे मन से प्रार्थना करने वाला कहा जा सकता है।

एक शराबी ने नशे में धुत्त होकर किसी के हाथों अपना मकान सस्ते दाम में बेच डाला होश आया तो अदालत में अर्जी दी कि नशे में होश-हवाश ठीक न होने के कारण वह बिक्री की थी। अब होश में आने पर उस इकरार नामे से इनकार करता हूँ। पूजा, प्रार्थना के समय लोग न जाने क्या-क्या स्तुति, प्रार्थना करते हैं। मैं तेरी शरण में आया हूँ, तेरा ही हूँ, तेरे चरणों में पड़ा हुआ हूँ, मेरा तो तू ही है। तेरे सिवा मेरा कौन है।'' आदि आदि। वे इन शब्दों का अर्थ भी नहीं समझते और न फलितार्थ। जो शब्द कहे जा रहे हैं यदि वे समझ-बूझकर—होश-हवाश में कहे गये होते तो जरूर उस स्थिति के अनुरूप जीवन क्रम ढालने और विचारों तथा कार्यों में उनका समावेश करने का प्रयत्न किया गया होता। पूजा स्थल से निकलते ही—जब प्रार्थना कथन को कार्यान्वित होने की आवश्यकता अनुभव होती है तब सब कुछ बहुत कठिन प्रतीत होता है। होश में आये हुये शराबी की तरह तब उस कथनी को करनी में परिणित कर सकने की हिम्मत न होने से यही कहना पड़ता है उस इकरारनामे से इनकार करता हूँ जो पूजा के समय सब कुछ भगवान को समर्पण करने वाली शब्दावली के साथ कहा गया था।

प्रार्थना में यही कामना जुड़ी रहनी चाहिए कि परमात्मा हमें इस लायक बनाये कि उसके सच्चे भक्त अनुयायी एवं पुत्र कहला सकने का गौरव प्राप्त करें। परमेश्वर हमें यह शक्ति प्रदान करे जिसके आधार पर भय और प्रलोभन से मुक्त होकर—विवेकसम्मत कर्त्तव्य

पथ पर साहस पूर्वक चल सकें और इस मार्ग में जो भी अवरोध आवें उनकी उपेक्षा करने में अटल रह सकें। कर्मों के फल अनिवार्य हैं। अपने प्रारब्ध भोग जब उपस्थित हों तो उन्हें धैर्य पूर्वक सह सकने और प्रगति के लिये परम पुरुषार्थ करते हुए कभी निराश न होने वाली मनःस्थिति बनाये रह सकें। भगवान हमारे मन को ऐसा निर्मल बना दें कि कुकर्म की ओर प्रवृत्ति ही उत्पन्न न हो और हो भी तो उसे चरितार्थ होने का अवसर न मिल पाये। मनुष्य-जीवन की सफलता के लिये गतिशील रहने की पैरों में शक्ति बनी रहे ऐसी उच्चस्तरीय प्रार्थना को ही सच्ची प्रार्थना के रूप में पुकारा जा सकता है, जिसमें धन, सन्तान, स्वास्थ्य, सफलता आदि की याचना की गई हो और जिसमें अपने पुरुषार्थ कर्त्तव्य के अभिवर्धन का स्तरण न हो ऐसी प्रार्थना को याचना मात्र कहा जायेगा। ऐसी याचनाओं का सफल होना प्रायः संदिग्ध ही रहता है।

परा मनोविज्ञान वेत्ता डॉ० एमेली केडी ने लिखा है प्रार्थना, मात्र ईश्वर को धन्यवाद देने या उससे कुछ याचना करने की प्रक्रिया का नाम नहीं है। वरन् यह वह मनःस्थिति है जिससे व्यक्ति शंका और सन्देहों के जंजाल में से निकल कर श्रद्धा की भूमिका में प्रवेश करता है। अहङ्कार को खोकर समर्पण की नम्रता स्वीकार करना और उद्धत मनोविकारों को ठुकराकर परमेश्वर का नेतृत्व स्वीकार करने का नाम प्रार्थना है। जिसमें यह सङ्कल्प भी जुड़ा रहता है कि भावी जीवन परमेश्वर के निर्देशों के अनुसार पवित्र और परमार्थी बनाकर जिया जायेगा। ऐसी गहन अन्तस्तल से निकली हुई प्रार्थना जिसमें आत्मपरिवर्तन की आस्था जुड़ी हुई हो भगवान का सिंहासन हिला देती है। ऐसी प्रार्थना के परिणाम ऐसे अद्भुत होते हैं जिन्हें चमत्कार कहने में कुछ हर्ज नहीं है।

चिकित्सा शास्त्र पर नोबेल पुरस्कार विजेता एवं फ्रान्स के लियो विश्व विद्यालय के प्राध्यापक डॉ० कैरल ने अपनी प्रत्येक सफलता के पीछे ईश्वर की अनुकम्पा को छिपा हुआ देखा है। वे

कहते थे तुच्छ मानव-प्राणी उन्नति के उस स्तर पर नहीं पहुँच सकता जहाँ साधारण लोग आमतौर से नहीं पहुँचते। इन विशिष्ट साधन, विशिष्ट परिस्थितियों और विशेष सूझ-बूझ के पीछे उन्होंने सदा परमेश्वर का दिव्य सहयोग झाँकना देखा और सदा यही कहा—यह वाहन अन्तरंग से निकलने वाली भाव भरी प्रार्थना की प्रतिक्रिया है। उन्होंने अपनी चिकित्सा पद्धति के साथ औषधियों से अधिक प्रार्थना को महत्त्व दिया। वे हर रोगी से कहते थे सच्चे मन से प्रार्थना करो—अपनी भूलों के लिए पश्चाताप और भविष्य में निर्मल जीवन जीने की प्रतिज्ञा के साथ यदि प्रार्थना करोगे तो वह जरूर सुनी जायेगी। सच्चा इलाज तो पश्चाताप है और ईश्वर के चरणों में अपना समर्पण, जो ऐसा कर सकेगा वह शारीरिक ही नहीं आन्तरिक रोगों से भी छुटकारा पा जायेगा।

महात्मा गान्धी ने अपने एक मित्र को लिखा था—"राम नाम मेरे लिये जीवन अवलम्बन है जो हर विपत्ति से पार करता है।" जब तुम्हारी वासनायें तुम पर सवार हो रही हों तो नम्रता पूर्वक भगवान को सहायता के लिये पुकारो, तुम्हें सहायता मिलेगी।

जब मन दुर्बल हो रहा हो—मनोविकार बढ़ रहे हों और लगता हो कि पैर अब फिसला तब फिसला। तो सच्चे मन से प्रभु को पुकारना चाहिए। गज को ग्राह के चंगुल से छुड़ाने वाले भगवान—पतन से परित्राण पाने के लिये व्याकुल आर्त भक्त की पुकार अनसुनी नहीं करते हैं और उस मनोबल रूप में अन्तःकरण में उतरते हैं जिसे गरुड़ कह सकते हैं और जो पतनोन्मुख दुष्प्रवृत्तियों के सर्पों को उदरस्थ करते रहने का अभ्यासी है।

भगवान को आत्म-समर्पण करने की स्थिति में जीव कहता है—तस्यैवाहम् (मैं उसी का हूँ) तवैवाहम् (मैं तो तेरा ही हूँ) यह कहने पर उसी में इतना तन्मय हो जाता है—इतना घुल-मिल जाता है कि अपने आपको विसर्जन, विस्मरण ही कर बैठता है और अपने को परमात्मा का स्वरूप ही समझने लगता है। तब वह कहता

है—त्वमेवाहम् (मैं ही तू हूँ) शिवोहम् (मैं ही शिव हूँ) ब्रह्मास्मि-(मैं ही ब्रह्म हूँ)।

भगवान को अपने में और अपने को भगवान में समाया होने की अनुभूति की जब इतनी प्रबलता उत्पन्न हो जाय कि उसे कार्य रूप में परिणत किये बिना रहा ही न जा सके तो समझना चाहिए कि समर्पण का भाव सचमुच सजग हो उठा। ऐसी शरणागति व्यक्ति को द्रुतगति से देवत्व की ओर अग्रसर करती है और यह गतिशीलता इतनी प्रभावकारी होती है कि भगवान को अपनी समस्त दिव्यता समेत भक्त के चरणों में शरणागत होना पड़ता है। यों बड़ा तो भगवान ही है पर जहाँ प्रार्थना, समर्पण और शरणागति की साधनात्मक प्रक्रिया का सम्बन्ध है इस क्षेत्र में भक्त को बड़ा और भगवान को छोटा माना जायेगा क्योंकि अक्सर भक्त के संकेतों पर भगवान को चलते हुए देखा गया है।

प्रार्थना का मतलब चाहे जो माँगना नहीं है

इंगलिश में एक जगह कहा गया है कि—"जो तुम माँगते हो सो पाते नहीं—क्योंकि तुम गलत माँगते हो।" सचमुच माँगना भी एक कला है और उसमें भी समझदारी की आवश्यकता है। अन्यथा बिना विचार किये गये अन्य कामों की तरह हमारी प्रार्थना याचना भी निष्फल चली जायेगी। यदि माँगना ही हो तो पहले यह देख लेना चाहिए और किस शर्त पर माँगना चाहिए। डाकखाने में जाकर आप जलेबी माँगे तो उपहास के अलावा क्या हाथ लगेगा। दर्जी की दुकान पर किताबें माँगी जायें तो निराश ही होना पड़ेगा। भिक्षुओं को याचना के साथ कारण बताना पड़ता है। शारीरिक असमर्थता या किसी आकस्मिक विपत्ति की चर्चा न की जाय और कोई तन्दुरुस्त व्यक्ति ऐसे ही भिखा माँगने लगे तो उसे कोई बिरला ही कुछ देगा।

ईश्वर दयालु और दाता तो है, पर देते समय वह भी विवेक से काम लेता है और पात्रता परखते हुए ही देने वाली मुट्ठी खोलता

है। जहाँ तक सहज अनुदान का प्रश्न था वहाँ उसने सबको बहुमूल्य शरीर एक से एक उपयोगी अंग बुद्धि, सुन्दर दुनिया तथा सुविधा जनक परिस्थितियाँ प्रदान की हैं। एकाकी तो हम एक मक्खी भी नहीं बना सकते और उसकी प्रदत्त सामग्री न हो तो अन्न का एक दाना भी उगा सकना सम्भव नहीं। आदमी के पुरुषार्थ और बुद्धि का बहुत मूल्य है पर वह तभी कुछ कर सकने और पा सकने में सफल हो सकता है जब आवश्यक साधन और सुविधायें उपलब्ध हों। कहना न होगा कि वस्तुयें तथा सुविधायें इस संसार में भगवान ने ही उपलब्ध की हैं। मनुष्य तो उनमें थोड़ा हेर फेर कर लेता या उपयोग उपभोग में अपनी चतुरता का ताल-मेल बिठा लेता है। उसके पुरुषार्थ और बुद्धि वैभव का दायरा इतना ही सीमित है। मूल उत्पादन और अनुदान तो सर्वत्र परमात्मा का ही बिखरा पड़ा है।

यह समस्त उपलब्धियाँ भगवान ने आरम्भ से ही मनुष्य को दे दी हैं और उसे इस लायक बना दिया है कि दैनिक जीवन की अपनी आवश्यकताओं को अपने कौशल से स्वयं पूरा कर लिया करे। इसके अतिरिक्त परिस्थितियों को अनुकूल बनाने, परस्पर सद्भाव, सहयोग बनाये रहने तथा प्रगति के लिए साधन जुटाने के लिये इतना बुद्धि, कौशल दिया है कि आये दिन सामने आती रहने वाली उलझनों को सुलझाया जा सके। धैर्य, साहस, पुरुषार्थ, पराक्रम, विवेक, स्नेह, आदि विशेषताओं से सम्पन्न ऐसा मन बनाया है जो प्रतिकूलता में अनुकूलता उत्पन्न कर सके और अपनी हँसी-खुशी को हर स्थिति में अक्षुण्य रख सके। हर दिशा में प्रगति की इतनी सम्भावनायें प्रस्तुत करके रखी गई हैं कि यदि बुद्धिमानी से काम लिया जाय तो अभाव और असुविधा सहने का कोई अवसर ही न आये, आ भी जाय तो इतना मनोबल दिया गया है जिससे विपत्तियों के सहने तथा उन्हें बदलने की चेष्टा करते हुए जीवन क्रम की सरसता को अक्षुण्ण बनाये रहा जा सके।

यह सब ईश्वर प्रदत्त अनुदान इतने बड़े हैं और इतनी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है कि उसे महान दयालु और महान दानी कहने में कोई सङ्कोच नहीं होना चाहिए। जीवनयापन की आवश्यक सुविधा, साधन देकर भगवान ने सब प्राणियों को भेजा है। फिर मनुष्य को तो वाणी, समझ तथा कुशलता का अनुदान अतिरिक्त रूप से भी दिया है जिसके आधार पर अन्य जीवों की तुलना में असंख्य गुना सुविधा सम्पन्न जीवन जी सकता है। इतने पर भी यदि कोई दुःखी या अभावग्रस्त रहता है, शोक-सन्ताप सहता है तो यही कहा जायेगा कि उसने उपलब्ध साधनों तथा परिस्थितियों का ठीक से उपयोग करना एवं लाभ उठाना नहीं सीखा। इस नासमझी का दण्ड यदि उसे मिलता और अपने को विपन्न स्थिति में पड़ा पाता है तो उसमें दोष उसी का है। इसलिये किसी अन्य को यहाँ तक कि भगवान को भी दोषी नहीं ठहराया जा सकता। थाली सामने परसी रखी हो पर यदि कोई उसे ठुकरा दे और खाना ही न चाहे तो उस आमन्त्रित कठिनाई से कोई क्यों कर किसी को बचा सकता है?

नब्बे प्रतिशत कठिनाइयाँ ऐसी हैं जो न भाग्य से उत्पन्न हुई हैं और न किसी दूसरे ने पैदा की हैं वरन् उनका कारण मात्र नासमझी या कर्तृत्व की दोष पूर्ण पद्धति है। इन्हें सुधार लिया जाय तो मनुष्य हँसी-खुशी का—शान्त और सन्तुष्ट जीवन जी सकता है। मनुष्य की वास्तविक आवश्यकतायें बहुत स्वल्प हैं। उसका आहार अन्य पशुओं से कम है। भोजन, वस्त्र, मकान आदि के साधन जुटा लेना इस महँगाई के जमाने में भी बहुत कठिन नहीं है। शिष्टता, सादगी, व्यवस्था और सज्जनता से रहना आता हो तो मिल-जुलकर शान्ति और स्नेह पूर्वक रहने का वातावरण बना रह सकता है। आहार-विहार का ज्ञान हो तो रोगी बनने की भी नौबत न आवे। परिस्थितियों के अनुरूप चिन्तन को ढालने मोड़ने का मानसिक लोच बना रहे तो आवेश उद्वेग और शोक-सन्ताप भी सहन न करने पड़ें। संग्रह और स्वामित्व का अहङ्कार अमीरी और आतंक की

अभिलाषा न हो तो न असन्तोष की आग में जलना पड़े और न पाप, अपराध करने की आवश्यकता पड़े। वासनाओं और तृष्णाओं को काबू में रखा जा सके तो इस सुन्दर से भगवान के संसार उद्यान में हँसते-खेलते दिन बिताये जा सकते हैं। मनुष्य का जीवन अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक सुविधा सम्पन्न है उसे पाकर आदमी को भलमनसाहत आती हो तो सन्तोष और शान्ति के साथ स्वयं जी सकता है और दूसरों को जीवित रहने दे सकता है।

पर हम देखते हैं कि मनुष्य को जितनी सुविधायें मिली हैं उतना ही ज्यादा वह दुःखी तथा उलझा हुआ है। इसका कारण वस्तुओं की कमी नहीं, वरन् उसके सदुपयोग की क्षमता का अभाव है। इसका कारण परिस्थितियों की क्षमता का अभाव है। इसका कारण परिस्थितियों की प्रतिकूलता नहीं वरन् उसके अनुकूल ढलने या उन्हें अपने अनुकूल ढालने वाले कलात्मक दृष्टिकोण की कमी है। यदि अपनी इन त्रुटियों को दूर कर लिया जाय तो न अभाव ग्रस्तता अनुभव होगी और न उसकी पूर्ति के लिए किसी से प्रार्थना करनी पड़ेगी। न अपने ऊपर सङ्कट की घटायें घिरी दीखेंगी और न किसी का सहारा तकना पड़ेगा।

भगवान से माँगने योग्य वस्तुयें श्रद्धा, हिम्मत, श्रम-निष्ठा, सच्चरित्रता, करुणा, ममता, पवित्रता और विवेकशीलता जैसी वे सद्भावना एवं सत्प्रवृत्तियाँ हैं जो विपन्नता को सम्पन्नता में बदल देती हैं और अभाव रहते हुए जिनके कारण विपुल सम्पन्नता का सुख अनुभव होता रहता है। प्रगति और सफलता का सारा आधार सद्गुणों पर अवलम्बित है। उनके बिना अकस्मात किसी प्रकार कोई लाभ मिल भी जाय तो उसे सँभालना और स्थिर रखना सम्भव न होगा। सदुपयोग केवल उस वस्तु का किया जा सकता है जो उचित मूल्य देकर उपर्जित की गई हैं। अनायास बिना परिश्रम के मिली हुई सम्पत्ति का अपव्यय ही होता है और उससे अनेक व्यसन और उद्वेग पैदा होते हैं जिनके कारण वह उपलब्धि सुखदायक न होकर अनेक

विपत्तियाँ और विकृतियाँ उत्पन्न करने का कारण बन जाती है। भगवान जिस पर प्रसन्न होते हैं उसे सद्‌गुणों का उपहार देते हैं क्योंकि वे अपने आप में इतने महान हैं कि यदि साधना सम्पन्नता न भी हो तो भी केवल उन सद्‌गुणों की सम्पदा के आधार पर मनुष्य सुखी, समुन्नत और सम्मानित जीवन जी सकता है। यही दिव्य सम्पदायें भगवान से माँगनी चाहिए। यही हैं वे विभूतियाँ जिन्हें वे अपने भक्तों को दिया करते हैं।

भौतिक सुख, सम्पदाओं का जितना अपना हक था उतना जन्मते ही मिल चुका अब अपने पुरुषार्थ और प्रयत्न की बात रह जाती है जितनी योग्यता संग्रह करेंगे, जितनी कुशलता का परिचय देंगे और जितना मनोयोग पूर्वक श्रम करने की आदत डालेंगे उतने ही सुख-साधन मिलते जायेंगे। इसमें परमात्मा से माँगने की क्या बात है जो हम अपने पुरुषार्थ से प्राप्त कर सकते हैं उसके लिए हाथ पसारने की क्या जरूरत? शरीर रोगी है तो आहार-विहार का संयम, आरोग्य के नियम पालन में कड़ाई और उपयुक्त चिकित्सा परिचर्या की व्यवस्था करनी चाहिए। पैसों की तंगी पड़ती है तो उपार्जन के लिए अधिक पुरुषार्थ, योग्यता की अभिवृद्धि तथा खर्च में कमी करने वाली सादगी अपनानी चाहिए और उस संकट को पार करना चाहिये। यदि आरोग्य, धन जैसी वस्तुओं को माँगें, परीक्षा में उत्तीर्ण होने की अथवा मुकदमा जीतने की योजना करें और माँगने मात्र से भगवान उन कामनाओं को पूरी करदें तो फिर योग्यता एवं पात्रता बढ़ाने की क्या आवश्यकता रह जायेगी। फिर वे घाटे में रहेंगे जो पराक्रम करने में जुटे हुए हैं। जब सरलता पूर्वक प्रार्थना मात्र से अभीष्ट सफलतायें मिल सकती हैं और मनोकामनायें पूर्ण हो सकती हैं तो फिर उनके लिए इतना कष्ट साध्य पुरुषार्थ कौन करेगा? फिर कर्मफल का सिद्धांत ही गलत हो जायेगा और लोग कर्मनिष्ठ बनने की अपेक्षा प्रार्थना परायण बनना पसन्द करेंगे। क्योंकि सरलता उसी में है। इसी प्रवृत्ति ने अपने देश में भिक्षुओं की संख्या ५६ लाख बढ़ा

दी है। यह परावलम्बन देश की आर्थिक और सामाजिक स्थिति को दुर्बल कर रहा है। प्रार्थना के साथ भौतिक सुख-सुविधाओं की याचना जोड़ देने से अध्यात्म तत्व की महत्ता गिर गई। उस क्षेत्र में अब आत्म-बल सम्पन्न महामानव नहीं दीखते वरन् दीनता भरी गिड़गिड़ाने की वाणियाँ मात्र सुनाई पड़ती हैं।

क्या माँगने मात्र से अभीष्ट प्रयोजन पूरे हो सकते हैं? क्या सुख-सुविधाओं का उपहार याचना मात्र से मिल सकता है? उत्तर नहीं में ही मिलेगा। इंजील ने ठीक ही कहा है—'जो तुम माँगते हो सो पाते नहीं—क्योंकि गलत माँगते हो।' गलत जगह पर गलत चीज मांगने से उसका मिलना कैसे सम्भव हो सकता है। भौतिक सफलतायें हमें अपनी भुजाओं और कलाइयों से माँगनी चाहिए। अपनी अकल को तेज करना चाहिए और सूझ-बूझ से काम लेना चाहिए। अवरोध उत्पन्न करने वाली त्रुटियों को सुधारना चाहिए। सफलता का द्वार खुल जायेगा। नास्तिक लोग जो कभी पूजा, प्रार्थना नहीं करते, भौतिक उन्नति के पर्याप्त साधन जुटा लेते हैं इसके विपरीत जो पूजा प्रार्थना में ही लगे रहते हैं, वे अभाव, दारिद्रय की, निराशा और असफलता की परिस्थितियों से घिरे रहते हैं। इसका एक मात्र कारण यही है कि जो चीज जहाँ से माँगी जानी चाहिए थी वहाँ नहीं माँगी गई। पराक्रम से जो माँगा जाना चाहिए था वह भगवान से माँगा गया। जो भगवान से माँगा जा सकता था उसकी आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई। इस भ्रमग्रस्त दशा में मनोरथ पूरे हों भी कैसे।

भगवान स्वयं अपनी विधि-व्यवस्था में बँधे हुए हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने आपके साथ तक कोई रिआयत नहीं की, अपने सगे सम्बन्धियों तक को छूट नहीं दी। कर्म-फल की व्यवस्था को ही सर्वत्र प्रधान रखा। ऐसा न होता तो कोई पुरुषार्थ करने के लिए तैयार ही क्यों होता और कुकर्मों से बचने के लिए किसी को आवश्यकता ही क्या पड़ती। प्रार्थना मात्र से सारी सुविधायें मिल जाती तो फिर कठोर, कर्मठता के लिए कटिबद्ध होने की इच्छा ही क्यों होगी।

दशरथ जी ने श्रवण कुमार को क्यों मारा—मृतक के पिता ने शाप दिया कि मेरे पुत्र को मारने वाले को इसी प्रकार पुत्र के शोक में बिलख कर मरना पड़ेगा। दशरथ जी की मृत्यु उसी प्रकार हुई। भगवान राम अपने पिताजी को कर्मफल भोगने की अनिवार्यता से छुटकारा न दिला सके। त्रेता में रामचन्द्र जी ने छिपकर बालि को बाण मारा—द्वापर में बालि ने बहेलिया बनकर भगवान कृष्ण के पैर में तीर मारा। मृत्यु के समय कृष्ण जी ने कर्मफल की अनिवार्यता का इस घटना को प्रमाण बताया। अर्जुन पुत्र—अभिमन्यु श्रीकृष्ण की बहिन का पुत्र था, मृत्यु का विधान और प्रारब्ध को टाल सकने की अपनी असमर्थता को ही भगवान व्यक्त करते रहे। उन्होंने, कर्म प्रधान विश्व करि राखा की उक्ति को विश्व के व्यवस्था, संचालन का प्रधान तथ्य माना है। सो उसे प्रार्थना के बदले रिआयत के रूप में भी टाला जा सकना सम्भव नहीं है। भगवान की भक्ति और प्रार्थना का स्वरूप व्यावहारिक जीवन में कर्मनिष्ठा के रूप में होना चाहिए। उन सत्प्रवृत्तियों को विकसित करने के रूप में होना चाहिए जो परिस्थितियों को बदलने या उनका धैर्य और साहस के साथ सामना करने की क्षमता प्रदान करती है। वह विवेक प्रार्थना का उपहार ही कहा जायेगा जो हर परिस्थिति में हँसते-मुस्कराते हुए हलका फुलका जीवन जी सकने की क्षमता प्रदान करता है।

कुछ तो कामनायें ही ऐसी ऐसी होती हैं जिनकी कोई उपयोगिता नहीं, फिर भी उन्हें अकारण चाहते हैं। जैसे संतान का न होना आज की परिस्थिति में भारत जैसे गरीब देश में एक सौभाग्य ही है, पर कितने ही बुद्धिहीन लोग इस सौभाग्य को भी दुर्भाय मानते हैं और दुःखी रहते तथा उस दुर्भाग्य की याचना के लिए प्रार्थना करते हैं। ऐसे लोग न प्रार्थना का स्वरूप समझते हैं और न उपयोग। जो भी जी में आया सो मुफ्त की लूट, मानकर माँगने के लिए हाथ पसारने लगे। ऐसे लोगों की कामनायें यदि भगवान यों ही स्तुति, प्रार्थना से प्रभावित होकर पूरी करने लगें तो फिर इस संसार में कर्म,

पुरुषार्थ—पात्रता और विवेकशीलता की कुछ आवश्यकता ही न रह जायेगी फिर यहाँ अन्धेर नगरी बेबूझ राजा की उक्ति ही सर्वत्र चरितार्थ होती दिखाई देगी। वस्तुतः ऐसा होता नहीं, न हो ही सकता है। उपलब्धियों के लिए पात्रता आवश्यक है। पात्रता की अभिवृद्धि के लिए आत्मबल प्राप्त करना ही प्रार्थना का प्रयोजन है। ऐसी सार्थक प्रार्थना ही सफल होती है और उन्हें ही सफल होना भी चाहिए।

ईश्वर प्राप्ति के लिये जीवन-साधना की आवश्यकता

ईश्वर की पूजा प्रार्थना अध्यात्म की आरम्भिक प्रक्रिया है। इसका प्रयोजन यह है कि हम जिस ईश्वर को एक प्रकार से सर्वथा भुला चुके हैं उसे स्मरण करें और स्मरण के साथ-साथ यह देखें कि मनुष्य जीवन के साथ उसका क्या सम्बन्ध है? इस सम्बन्ध को ठीक तरह समझ लेने और उसका निर्वाह कर सकने की ललक जागृत करना यह अध्यात्म का मूलभूत प्रयोजन है। इसी की पूर्ति के लिये उपासना को—कीर्तन, भजन, जप, तप, स्तवन आदि की—आवश्यकता समझी गई है।

यों ईश्वर के बारे में हमने बहुत कुछ सुना पढ़ा है। मन्दिरों में उसके दर्शन भी किये हैं और कृपा प्राप्त करने के लिये पूजा पाठ भी। पर सच तो यह है अभी तक उसे ठीक तरह समझा नहीं जा सका। यदि इतनी भर सफलता मिल जाती तो उपासना भी ठीक तरह बन पड़ती और उसका लाभ प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता।

लोग इतना भर जानते हैं कि ईश्वर किसी अन्य लोक में रहने वाले ऐसे देवता का नाम है जो पूजा अर्चा का भूखा और स्तुति प्रार्थना का प्यासा बैठा रहता है। जो कोई उसे यह चीजें दे दे उसे निहाल कर देता है उसे पापों का दण्ड नहीं देता और जो पूजा प्रार्थना

नहीं करता उससे रुष्ट रहता है और कष्ट पहुँचाता है। यदि यह मान्यता सही हो तो नैतिकता और न्याय की कसौटी पर ऐसा ईश्वर सर्वथा ओछा और खोटा सिद्ध होगा। तब उसकी व्यवस्था में किसी सिद्धान्त, आदर्श, नियम या व्यवस्था की कैसे आशा की जायेगी? और उसके प्रति किसी विवेकवान व्यक्ति के मन में श्रद्धा क्यों कर उत्पन्न होगी?

सचाई प्रचलित मान्यता से सर्वथा भिन्न है। ईश्वर सर्वव्यापी दिव्य चेतना को कहते हैं जो श्रेष्ठता के रूप में मानव अन्तःकरण को विकसित करती है। ईश्वर एक प्रेरणा है जो हमें उत्कृष्ट जीवन यापन और आदर्श क्रिया कलाप अपनाने की ओर अग्रसर करती है। ईश्वर एक प्रकाश है जो हमें न्यायप्रिय विवेकशील और कर्त्तव्यनिष्ठ बनने के लिये मार्गदर्शन करता है।

सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों के रूप में मनुष्य के अन्तःकरण में—सबसे निकट यह ईश्वर विद्यमान रहता है। पर दुर्भाग्यवश हम उससे विमुख होकर आसुरी, ईश्वर विरोधी और नास्तिकवादी रीति-नीति अपनाते हैं। हमारी बुद्धि में स्वार्थ भरी सङ्कीर्णता समाई रहती है। वासना और तृष्णा के लिए अन्तःकरण लालायित रहता है। यह प्रक्रिया विशुद्ध रूप से ईश्वर विरोधी है। नियति के निर्धारित चक्र का व्यतिक्रम करके कोई चैन से नहीं बैठ सकता। नास्तिक को न शान्ति मिलती है न सन्तोष। वह सदा पतित और व्यथित ही दिखाई पड़ता है।

उपासना इसलिए की जाती है। देव दर्शन, पाठ, जप, ध्यान, पूजन आदि का प्रयोजन यह है कि ईश्वर हमें याद आये। मानसिक चिन्तन और शारीरिक कर्तृत्व में ईश्वरीय महत्ता को ओत-प्रोत करने की आवश्यकता अनुभव होती रहे साथ ही इस बात का भी भान रहे कि ईश्वर और जीव यदि मिल-जुलकर—एक होकर—रहें तो उससे हर्ष और आनन्द का विस्तार होगा। ईश्वर सन्तुष्ट होगा कि उसने मनुष्य के निर्माण पर जो श्रम किया था वह निरर्थक नहीं

गया। जीव आनन्द अनुभव करेगा कि उसने सर्व शक्तिमान सत्ता के संकेतों पर चलना स्वीकार करके उसका स्नेह, सद्भाव और अनुग्रह प्राप्त कर लिया।

पूजा उपासना को—साधना कहते हैं। साधन की चेष्टा जुटाना। साधन—अर्थात् प्रयत्न, उपकरण, क्रिया कलाप। साध्य—ईश्वर की—ईश्वर की अनुकम्पा की—प्रसन्नता और सहायता की प्राप्ति। साधन—एक उपाय भर है। प्रार्थना, स्तुति, पूजा, जप उस कर्त्तव्य का स्मरण दिलाता है जो हमें ईश्वर प्राप्ति के लिए करना है। आत्म-परिष्कार—लोक मङ्गल, परमार्थ से युक्त मनोभूमि और क्रिया पद्धति ही वह मार्ग है जिस पर चलकर ईश्वर प्राप्ति होती है। पूजा उपासना इस कर्त्तव्य से विमुख न होने—इसके लिए निरन्तर सचेष्ट रहने की प्रेरणा करती है। इसलिए उसे भी प्रथम चरण के रूप में आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी माना गया।

साधना का प्रयोजन और परिणाम

साधना का उद्देश्य किसी के सामने गिड़गिड़ाना, झोली पसारना या नाक रगड़ना नहीं है। दीनता न आत्मा को शोभनीय है न परमात्मा को प्रिय। परमात्मा न खुशामद का भूखा है और न है उसे प्रशंसा की आवश्यकता। उसकी महानता अपने आप में अपनी प्रशंसा है। मनुष्यों की वाणी न उसमें कुछ वृद्धि कर सकती है और न कमी। अपने ही बालक के मुख से प्रशंसा कराना किसी मनुष्य को भी अच्छा नहीं लगता फिर परमात्मा जैसे महान के लिए तो उसमें क्या आकर्षण हो सकता है। प्रशंसा करके किसी से कुछ प्राप्त करने का प्रयत्न ओछे दर्जे का कृत्य माना जाता है। उस चंगुल में ओछे लोग ही फँसते हैं और उसे करने के लिए ओछापन ही तैयार होता है। खुशामद व चापलूसी का गोरख-धन्धा उन्हें पसन्द आता है, जो वस्तुतः प्रशंसा के पात्र नहीं। वे अपने चापलूसों के मुँह से अपनी बढ़ाई सुनकर खुशी मना लेते हैं। असली न मिलने पर उस

आवश्यकता को नकलियों से पूरा कर लेते हैं भक्त और भगवान के बीच यदि यही खुशामद चापलूसी का धंधा चले तो फिर समझना चाहिए दोनों की गरिमा गिर गई।

माँगना बुरा व्यवसाय है। चोरी से भी बुरा। चोर दुस्साहस करता है और खतरा मोल लेता है तब कहीं कुछ पाता है। पर भिखारी उतना भी तो नहीं करता। यह बिना कुछ किये ही पाना चाहता है। कर्म विज्ञान को एक प्रकार से वह झुठलाना ही चाहता है। संसार के स्वाभिमानी अपंग और असमर्थ भी स्वाभिमानी होते हैं। कोढ़ी और अन्धे भी कुछ कर लेते हैं। समाज उन्हें कर्तृत्व के साधन तो देता है पर मुफ्त में बिठा कर नहीं खिलाता इसमें देने वाले की उतारता भले ही हो पर लेने वाले को ऋण के भार से दबना पड़ता है और दीन बनकर स्वयं स्वाभिमान का हनन करना पड़ता है। यह हानि उस लाभ से बुरी है जो किसी दान से कुछ प्राप्त करके उपलब्ध किया जाता है।

दानी, दान और दानपात्र की भी एक आचार संहिता है। किसे दिया जाय? क्यों दिया जाय? कितना दिया जाय? किस आधार पर दिया जाय? इन कसौटियों पर कसने के उपरान्त ही भौतिक पदार्थों को देने और लेने की सार्थकता हो सकती है कोई कुछ भी किसी भी स्थिति में किसी भी प्रयोजन के लिए मांगे और देने वाला बिना गुण-दोष विचारे देता ही चला जाय तो समझना चाहिए कि वह अन्धेर देने वाले का, लेने वाले का और आचार व्यवहार का सर्वनाश करेगा। ईश्वर ऐसा दानी नहीं है कि हर मांगने वाले की मनोकामना फिर चाहे वह अज्ञानजन्य और अवांछनीय ही क्यों न हो पूरी ही करता चला जाय। यदि उसे ऐसा ही करना होता तो कर्म और उसके फल के सिद्धान्त को आरम्भ से ही ताक पर उठा कर रख देता। उस प्रक्रिया का ऐसा उपहास क्यों बनने देता, जैसा कि औघड़दानी कहकर बमभोला को मूर्ख समझते हुए भक्त मण्डली द्वारा बनाया जाता रहा है।

साधना निश्चित रूप से याचना नहीं है। वह विशुद्ध रूप से आत्म-परिष्कार, जीवन शोधन और पवित्रता के विकास की सुनियोजित प्रक्रिया है। तपश्चर्या की आग में हम अपने कलुष-कषायों को जलाते हैं। कर्मफल से छुटकारा पाने की वही चेष्टा है। कर्म फल अपने हाथ में नहीं। तीर छोड़ने से पहले अपने हाथ में था, छूट गया तो अपना कार्य करेगा। कर्मफल की व्यवस्था सृष्टि का कठोर और अपरिवर्तनीय नियम है। उसे यदि ईश्वर बदलने लगे तो फिर उसे अपनी सारी क्रम व्यवस्था ही बदलनी पड़ेगी। सच्चा न्यायाधीश अपने बेटे को भी अपराध का दण्ड देकर न्याय की रक्षा करता है। ईश्वर के न्यायालय में भक्त-अभक्त का अन्तर नहीं। भक्ति के दूसरे परिणाम हो सकते हैं पर उसका प्रयोजन यह नहीं हो सकता कि उस न्यायशील परमेश्वर को अन्याय या पक्षपात करने के लिए विवश किया जाय।

भक्ति हमें भविष्य में दुष्कर्म न करने की प्रेरणा देती है। अपने स्वभाव में धँसे हुए अविवेक और अनाचार उन्मूलन में सहायता करती है। निष्पाप और निर्मल बन कर हम प्रारब्ध कर्मो को भी धैर्य और शान्ति पूर्वक साहस और सन्तोष के साथ सहन कर सकते हैं और इस प्रकार प्रारब्ध भोग की आधी व्यथा हलकी कर सकते हैं। दुष्कर्मों और कुविचारों को तिलाञ्जलि देकर अपना भविष्य तो उज्ज्वल कर ही सकते हैं। साधना का लाभ भी कम महत्वपूर्ण नहीं।

संचित कर्मों के छुटकारे का एक ही सनातन मार्ग और विधान है प्रायश्चित। पिछली भूलों पर खेद प्रकट कर देने या क्षमा माँगने की औपचारिकता पूरी करने से काम नहीं चलता। समाज को जो क्षति पहुँचाई है उतना अनुदान देकर उस गड्ढे को पाटना पड़ेगा। मन को कुकर्म के द्वारा जितना कलुषित किया है उतना ही सत्कर्म के उल्लास से उसका सन्तुलन बनाना पड़ेगा। अनाचार की जिन अवांछनीय लहरों से वातावरण को क्षुब्ध किया था उसका समाधान पुण्य और परमार्थ की प्रक्रिया अपनाकर करना होगा। इतना साहस

भक्त में उदय होता है और वह अपनी सदाशयता सिद्ध करने के लिए न्याय के कटघरे में खड़े होने से पूर्व स्वयं ही उपस्थित होकर अपनी भूल स्वीकारने और उसकी क्षति पूर्ति करने की बहादुरी दिखाता है।

साधना की प्रतिक्रिया साधक को अपने पापों का प्रायश्चित करने का शौर्य प्रदान करती है और भविष्य में निर्मल जीवन जीने का साहस। यह सत्परिणाम है जो साधना आदि सच्ची हो तो उसके फलस्वरूप साधक को तुरन्त प्राप्त होता है।

आत्मज्ञान के अभाव में ही ईश्वर और जीव का वियोग है। अज्ञान के अन्धकार का पर्दा जितना चौड़ा है उतनी ही दूर परमेश्वर है। भगवान् का दर्शन और अनुग्रह प्राप्त करने के लिए सिर्फ छोटी सी मंजिल पार करनी पड़ती है और वह है आत्म-बोध। जिस घड़ी हम इन्द्रियों की गुलामी-वासना से, मन की दासता-तृष्णा से इनकार कर देते हैं और अपने को आत्मा मानकर आत्मकल्याण के पथ पर कदम बढ़ाते हैं उसी क्षण ईश्वर की समीपता स्पष्ट हो जाती है और हृदय की हर धड़कन में उसके दर्शन होने लगते हैं।

ईश्वर भक्त केवल ईश्वर के शासन में रहता है और उसी के निर्देश पर चलता है मन की गुलामी उसे छोड़नी पड़ती है। जो मन का गुलाम है वह ईश्वर भक्त नहीं हो सकता। जो ईश्वर भक्त है उसे मन की गुलामी न स्वीकार हो सकती है न सहन।

साधना का प्रयोजन अपने अज्ञान और अविवेक का निराकरण करना है अपनी कामनाओं का परिशोधन और निराकरण करना है अपने कर्तृत्व में देवत्व का समावेश करना और कुत्साओं, कुण्ठाओं को जड़-मूल से उखाड़ फेंकना है। साधना एक व्यायाम प्रक्रिया है जिसके अनुसार आत्म-बल बढ़ाया जाता है और देवपक्ष की सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्धन किया जाता है। इस आत्म परिष्कार के फलस्वरूप उन विभूतियों की चाभी हाथ लग जाती है जो परमेश्वर ने पहले से ही हमारे भीतर रत्न भण्डार के रूप में सुरक्षित कर दी है।

साधना हमारा दृष्टिकोण परिष्कृत कर देती है और अन्त:करण में वह प्रकाश उत्पन्न करती है, जिससे अपने लक्ष्य और कर्तव्य को समझ सकें। साधना वह शक्ति प्रदान करती है जिससे आत्मबल विकसित हो और सन्मार्ग पर चलने के लिए पैरों में अभीष्ट क्षमता रह सके। साधना साहस उपलब्ध कराती है जिसके आधार पर प्रलोभनों और आकर्षणों को दुत्कारते हुए कर्त्तव्य की चट्टान पर दृढ़ता पूर्वक अग्रसर रहा जा सके और हर विघ्न बाधा का, कष्ट-कठिनाई का धैर्य और सन्तुलन के साथ सामना किया जा सके।

साधना का वरदान 'महानता' है। साधना जितनी ही सच्ची और प्रखर होती है उतने ही हम महान बनते चले जाते हैं, तब हमें किसी से कुछ मांगना नहीं पड़ता। ईश्वर से भी नहीं। तब अपने पास देने को बहुत होता है इतना अधिक कि उससे अपने को, अपने संसार को और अपने परमेश्वर को सन्तुष्ट किया जा सके।

आत्मिक प्रगति के लिए द्वार खुला पड़ा है और उसमें प्रवेश करना अति सरल है। ईश्वर हमारे चारों ओर घिरा हुआ है। हमारे रोम-रोम में समाया हुआ है। मछली के भीतर और बाहर पानी ही पानी भरा रहता है अपने अन्दर और बाहर ब्रह्म चेतना का भरा पूरा समुद्र ही लहलहा रहा है। जो इतना समीप हो—इतना प्रचुर हो—उसे प्राप्त करने में क्या कठिनाई हो सकती है।

पिता और पुत्र का सामीप्य दुरूह कैसे हो सकता है? माता और बच्चे के सान्निध्य में अवरोध क्या होगा? भाई से भाई बिछुड़ा रहे इसकी क्या आवश्यकता? पति और पत्नी के मिलने में क्या बाधा? प्रकृति—गत अवरोध इस प्रसङ्ग में रत्ती भर भी बाधक नहीं है। आत्मा और परमात्मा के बीच—पिता, पुत्र, माता, शिशु, भाई-भाई और पति-पत्नि के लौकिक रिश्तों की अपेक्षा-सघन, स्वच्छ और प्रखर सम्बन्ध हैं। सांसारिक रिश्तों में दो स्वतन्त्र व्यक्तियों की बात रहने से कुछ भिन्नता और पृथकता भी रह सकती है। पर आत्मा और परमात्मा तो अंश और अंशी हैं। उनमें तो अग्नि और चिनगारी

जैसा ही भेद है। कमल और उसकी पंखुड़ियों—पदार्थ और उसके परमाणुओं की—सूर्य और उसकी किरणों की पृथकता आँकी भले ही जाय वस्तुत: वे तादात्म्य हैं। ईश्वर और जीव इतने ही घनिष्ठ हैं—आत्मा और परमात्मा के बीच ऐसा कोई व्यवधान नहीं है जिसे दूर करने के लिए —चिन्तित, दु:खी, खिन्न, उद्विग्न या हताश होने की आवश्यकता हो यह मिलन प्रक्रिया अति सरल है। ईश्वर प्राप्ति से अधिक आसान कार्य और दूसरा कोई हो ही नहीं सकता।

शरीर और मन परस्पर ओत-प्रोत हैं। शरीर और मन को मिलाने के लिए कुछ बड़ा काम नहीं करना पड़ता। करना पड़ता है तो इतना ही कि जो नशा पी लिया था, उसे उतर जाने दिया जाय और दुबारा न पिया जाय। नशा पीने से ही शरीर और मन का सम्बन्ध लड़खड़ा जाता है। चलना, करना, बोलना, सोचना—अनियन्त्रित हो जाने की उपहासास्पद स्थिति इसलिए बनती है कि नशे की खुमारी शरीर और मन का सम्बन्ध गड़बड़ा देती है। दोनों अलग-अलग दिशा में जाते—स्वच्छन्द विचरते दीखते हैं। उसमें दोष नशे का है, यदि नशे का परित्याग कर दिया जाय तो शरीर और मन की समता—एकरूपता में कोई अन्तर दिखाई न पड़ेगा। ईश्वर और जीव के बीच में माया का नशा ही प्रधान रूप में बाधक है। यह पर्दा हटा कि उसकी आड़ में बैठे भगवान के दर्शन हुए। बाधक तो यह झीना सा पर्दा ही है।

निद्रा ग्रस्त हो जाने पर शरीर और मन के सम्बन्ध गड़बड़ा जाते हैं। शरीर कहीं पड़ा रहता है—मन कहीं घूमता है। विलगाव को देखकर यह नहीं मान लेना चाहिए कि शरीर और मन दूर हैं। असम्बद्ध हैं। इन्हें इकट्ठा करने के लिए कोई बहुत भारी प्रयास पुरुषार्थ करना पड़ेगा। दोनों की एकता अविच्छिन्न है। अन्तर तो निद्रा ने डाला है। शरीर को मृतक जैसा उसी ने बनाया है। मन को देह से असम्बद्ध करने के लिए वह निद्रा ही कारण है। यदि उसे हटा दिया जाय तो जागते ही दोनों की एकता फिर यथावत हो जायेगी। शरीर

और मन दोनों परस्पर घुले मिले—और साथ-साथ मिल-जुलकर काम करते दिखाई देंगे।

आत्मा और परमात्मा दोनों अभिन्न हैं। भिन्नता तो अविद्या रूपी निद्रा ने उत्पन्न की है। इसे हटाना भगाना ही इस दुःखदायी वियोग के अन्त करने का एकमात्र उपाय है।

ईश्वर प्राप्ति अति सरल है। क्योंकि वह जीवन की महती आवश्यकता है। उसकी साधना सर्वथा सुगम है। उसमें कोई ऐसी कठिनाई नहीं है जिसके लिए भारी दौड़-धूप करने और सरंजाम जुटाने की जरूरत पड़े। तपश्चर्या, योग साधना, योग प्रक्रिया का मात्र प्रयोजन इतना है कि नशे की खुमारी और निद्रा की मूर्छना को हटा दिया जाय। जो साधना इस प्रयोजन को पूरा कर सकेगी उसी से ईश्वर प्राप्ति का सरल प्रयोजन सुगमता पूर्वक पूरा हो जायेगा।

व्यवधान केवल एक है—इसे सरल भी कह सकते हैं, कठिन भी। वस्तुतः वह साहसी के लिए अति सरल है और असमंजस ग्रस्त भीरु व्यक्ति के लिए अति कठिन। करना सिर्फ इतना भर है कि हम अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व को शरीर न मानें—सुखों की खोज बाहर के पदार्थों में ढूँढना बन्द कर दें। बर्हिमुखी दृष्टिकोण को अन्तर्मुखी बनायें। अपने को आत्मा मानें। आत्मा का हित साधन प्रमुख मानें। उसी में रुचि लें—उसी की इच्छा करें और उसी की व्यवस्था बनायें। अपना चिन्तन इसी लक्ष्य पर नियोजित करें और कार्यक्रम का पुनर्निर्धारण इस दृष्टि से करें कि यह जीवन परमेश्वर का है। परमेश्वर के लिए है और वही कार्य किये जायेंगे जो परमेश्वर द्वारा अपने लिए नियत निर्धारण किए गए हैं। पदार्थों में सुख खोजने की अपेक्षा प्रवृत्तियों में उत्कृष्टता व आनन्द तलाश करना पड़ेगा। यह परिवर्तन जितना स्पष्ट होता जायेगा ईश्वर उसी अनुपात से अपने समीप प्रस्तुत दिखाई देगा।

चिर संचित कुसंस्कारों से दुर्बुद्धि और दुष्प्रवृत्तियों से जूझना यही एक कठिन प्रसङ्ग है। इसी मोर्चे पर हारने से साधना असफल

होती है। तपस्वी का विजय ध्वज इसी शिखर पर गढ़ा हुआ है कि वह अज्ञानान्धकार में भटकने, भेड़ों का अन्धानुकरण छोड़कर स्वतन्त्र कर्तृत्व अपनाने में समर्थ हुआ या नहीं। अपना रास्ता आप बनाने की तपस्या—अपनी राह पर आप चलने की साधना जो कर सका—बर्हिमुखी दृष्टि को अन्तर्मुखी बना सका—भीतर के आकर्षण प्रलोभन और बाहर के उपहास प्रतिरोध का जो सामना कर सका—इस उत्कृष्टता पर आरूढ़ योद्धा की सर्वत्र विजय है। जिसने अपने को जीत लिया समझना चाहिए उसने ईश्वर को जीत लिया यह सरलतम है और कठिनतर भी।

भगवान् के लिये द्वार खोलें-स्थान बुहारें

भगवान हमारे अन्दर प्रवेश करना चाहते हैं, पर करे कैसे? द्वार तो हमने सभी बन्द कर रखे हैं। भगवान हमारे भीतर निवास करना चाहते हैं, पर वहाँ जगह तो सभी भरी पड़ी है।

अन्तरङ्ग के कोने-कोने में हमने कबाड़ भर रखा है। न जाने कितनी कामनाएँ—कितनी तृष्णाएँ— कितनी लालसाएँ उसमें डेरा डाले पड़ी हैं। ईर्ष्या, द्वेष, अहङ्कार, छल, दम्भ और मत्सर जैसे दुष्ट दस्युओं ने रही बची जगह घेर रखी है। अब उसमें तिल रखने भर की जगह नहीं। इस क्षेत्र पर पूरा आधिपत्य इन्हीं का है। इनका परिवार ही सारे भवन को घेरे बैठा है। बाहर से और किसी को न आने देने के लिये इन्होंने भीतर से कपाट बन्द कर रखे हैं। भगवान के लिए भी प्रवेश निषेध है।

पूजा उपासना का उपक्रम हम इसलिए रखा करते हैं कि भगवान हमारे भीतर प्रवेश करे और अन्तःकरण में निवास करे। उन्हें तो हम केवल तृष्णाओं और वासनाओं को समुन्नत परिपुष्ट करने में सहायता करने भर के लिये बुलाते हैं।

एक दुःखी लकड़हारा जङ्गल में मौत को पुकार रहा था। मौत को दया आई और उसने प्रकट होकर पूछा— मेरे लिए सेवा बताओ,

तैयार हूँ। लकड़हारा घबरा गया। बुला तो लिया पर अब उससे क्या काम कराये? उसने सकपकाते हुए कहा—लकड़ी का गट्ठा बहुत भारी था, उसे उठा कर सिर पर रखवा देने के लिए ही आपको बुलाया था। यह सहायता करके आप कृपा पूर्वक जल्दी चली जाँय। मौत ने गट्ठा सिर पर रखवा दिया और मुस्कराती हुई चली गई।

भगवान् को हम लकड़हारे की तरह ही बुलाते हैं, सिर पर गट्ठा रखवाने के लिए। उसकी गोदी में बैठने का हमारा मन हैं कहाँ? मन तो इन नट-नर्तकों के साथ हास-परिहास में—उनके स्वागत सत्कार में लगा है, जिनने अन्तरंग का कोना-कोना घेर कर अपने कब्जे में कर लिया है।

हमारी प्रार्थना में बल कहाँ है जो भगवान को प्रभावित कर सके। गन्दगी से सने पात्र में रखकर किसी संभ्रान्त व्यक्ति को भोजन दिया जाय तो वह उसे कैसे स्वीकार करेगा? हमारा व्यक्तित्व भीतर और बाहर बेतरह गन्दगी से भरा पड़ा है। उसमें रखकर दी हुई प्रार्थना भगवान कैसे ग्रहण करेंगे?

बर्तन में दूध भरना हो तो पहले से उसमें भरी हुई मिट्टी को निकाल कर फेंकना पड़ेगा, तभी उस खाली जगह में दूध भरा जा सकेगा। यदि हमें भगवान को अपने भीतर बुलाना हो तो उनके लिए उस स्थान को खाली कराना पड़ेगा जहाँ स्वार्थ और लोभ के परिवार ने अपना अड्डा जमा रखा है।

भगवान् को बुलाना ठीक है। पर उनके बैठने के लिए जगह बनानी चाहिए। पूजा प्रार्थना करना ठीक है। पर पूजा पात्रों की तरह अपने हाथों को सत्कर्मों द्वारा और वाणी को सत्य द्वारा भी शुद्ध करना चाहिए। जिस मन से पूजा प्रार्थना की जाती है पहले उसकी मलीनता धोनी चाहिए। गन्दे पात्र में रखी पूजा सामग्री भगवान को कैसे स्वीकार होगी। कामनाओं से भरे मन में उन भावनाओं का उदय कैसे होगा जो भगवान को द्रवित करने में समर्थ होती है।

स्वार्थ और संकीर्णता कपाट खोलें तो भगवान का भीतर प्रवेश हो। मुख में भरे हुए तृष्णा के ताम्बूल खाली हों तो स्तुति की जाय। प्रभु का अनुग्रह प्राप्त होने में विलम्ब का कारण केवल एक है उसे ग्रहण करने और रखने के लिए पात्रता का न होना। यदि भीतर का कपाट खोल दें और भगवान के बैठने के लिए स्थान खाली कर दें तो उनका प्रवेश, आगमन और अनुग्रह तनिक भी कठिन न रह जायेगा।

सिद्धि और सिद्ध पुरुषों का स्तर

भौतिक सिद्धियाँ तो उन कीड़े-मकोड़ों में भी पाई जाती है जो चलते समय पैर के नीचे दबकर मर जाते हैं। मक्खी आकाश में उड़ सकती है, बतक पानी पर चल सकती है, मछली जल में रह सकती है, गीध दूर तक देख सकता है, मकड़ी को वर्षा का भविष्य ज्ञान रहता है, जुगनू का तेज चमकता है, सर्प दंश से क्षण भर में मृत्यु होती है। कहते हैं, नीलकण्ठ पक्षी के दर्शन से लक्ष्मी मिलती है। दर्द बन्द करने में छिपकली का तेल काम आता है। गिरगिट कई तरह के रूप बदलता है। यदि इन्हीं सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए साधना की जाय तो सफलता के अन्तिम शिखर पर चढ़ते-चढ़ते वहीं पहुँचा जा सकता है जहाँ यह कीड़े-मकोड़े पहले से ही पहुँचे हुए हैं।

लोगों को कौतूहल दिखाकर अपनी विशेषता सिद्ध करने की आत्मश्लाघा पूरी करने की ही यदि हवस हो तो इसके लिए इतनी कष्ट साध्य गतिविधि अपनाने और सामान्य सुख सुविधायें छोड़ने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। लोगों को अचम्भे में डालने का काम बाजीगर बड़ी अच्छी तरह करते हैं। वे इतनी अलौकिकताएँ दिखाते हैं कि आश्चर्यचकित होना पड़ता है। यह 'कला' कुछ भी मुश्किल नहीं है। हाथ की सफाई का अभ्यास थोड़े दिनों में हो जाता है और बाजीगरी सिखाने वाले उन रहस्यों को सिखा भी सकते हैं।

देखना यह है कि इससे अपना क्या लाभ हुआ और क्या दूसरों का हित सधा? दस पैसे नाव वाले को देकर आवश्यकता के

समय नदी पार हो सकती है। रोज तो कोई पानी पर चलता नहीं, हर जगह पुल है, नावें मौजूद है इस सिद्धि को कोई व्यक्ति बहुत कष्ट सहकर प्राप्त करले तो उसे दस पैसे नाव वाले को न देने भर की ही बचत हुई। बीमार को अच्छा करने में सिद्ध पुरुष जितना लाभ पहुँचाते हैं उससे हजारों गुने अधिक रोगी एक डाक्टर अच्छे करता है। योगी कितने अन्धों को आँखें देगा, पर आँख के डाक्टर तो अपनी जिन्दगी में हजारों अन्धों को अच्छा करते हैं। योगी बनने की अपेक्षा डाक्टर बनना क्या बुरा है। उसमें कष्ट भी कम—लाभ भी अधिक। भारत से इङ्गलैण्ड उड़कर जाने की सिद्धि बहुत तप के बाद मिलेगी पर हवाई जहाज में थोड़ा सा किराया देने पर वह कार्य आसानी से हो सकता है। दूर दर्शन, दूर श्रवण के लिये जब टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन मौजूद हैं तो फिर उन सिद्धियों को प्राप्त करने की क्या जरूरत रह गई।

साधना, तपश्चर्या और योगाभ्यास का मात्र एक ही प्रयोजन है अपने अन्तःकरण में प्रसुप्त अगणित सत्प्रवृत्तियों का जागरण। सद्भावनाओं का उन्नयन। दृष्टिकोण का परिष्कार। कर्तृत्व में देवत्त्व के समावेश का अभ्यास। सिद्धियों की उत्कृष्टता इसी कसौटी पर परखी जाती है। इसी से अपना भला होता है और इसी से संसार का।

आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ देना। अन्तःकरण को प्रेम से लबालब भर देना—निश्छल निर्मलता विकसित करना और लोक-मङ्गल के लिए आत्मोत्सर्ग करना। यह सिद्धियाँ जिनके पास हैं असल में वही सच्चा और उच्चकोटि का सिद्ध पुरुष है।

क्या 'मैं' शरीर ही हूँ—उससे भिन्न नहीं?

मैं क्या हूँ? मैं कौन हूँ? मैं क्यों हूँ? इस छोटे से प्रश्न का सही समाधान न कर सकने के कारण 'मैं' को कितनी विषम विडम्बनाओं में उलझना पड़ता है और विभीषिकाओं में संत्रस्त होना पड़ता है, यदि यह समय रहते समझा जा सके तो हम वह न रहें, जो आज हैं। वह न सोचें जो आज सोचते हैं। वह न करें जो आज करते हैं।

हम कितने बुद्धिमान् हैं कि धरती आकाश का चप्पा-चप्पा छान डाला और प्रकृति के रहस्यों को प्रत्यक्ष करके सामने रख दिया। इस बुद्धिमत्ता की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी कम और अपने आपके बारे में जितनी उपेक्षा बरती गई उसकी जितनी निन्दा की जाय वह भी कम ही है।

जिस काया को शरीर समझा जाता है क्या यही मैं हूँ? क्या कष्ट, चोट, भूख, शीत, आतप आदि से पग-पग पर व्याकुल होने वाला अपनी सहायता के लिये बजाज, दर्जी, किसान, रसोइया, चर्मकार, चिकित्सक आदि पर निर्भर रहने वाला ही मैं हूँ? दूसरों की सहायता के बिना जिसके लिए जीवन धारण कर सकना कठिन हो—जिसकी सारी हँसी-खुशी और प्रगति दूसरों की कृपा पर निर्भर हो, क्या वही असहाय, असमर्थ, मैं हूँ? मेरी आत्म-निर्भरता क्या कुछ भी नहीं है? यदि शरीर ही मैं हूँ तो निस्संदेह अपने को सर्वथा पराश्रित और दीन, दुर्बल ही माना जाना चाहिए।

परसों पैदा हुआ, खेल-कूद, पढ़ने-लिखने में बचपन चला गया। कल जवानी आई थी। नशीले उन्माद की तरह आँखों में, दिमाग में छाई रही। चंचलता और अतृप्ति से बेचैन बनाये रही। आज ढलती उम्र आ गई। शरीर ढलने गलने लगा। इन्द्रियाँ जवाब देने लगीं। सत्ता, बेटे, पोतों के हाथ चली गई। लगता है एक उपेक्षित और निरर्थक जैसी अपनी स्थिति है। अगली कल यही काया जराजीर्ण होने वाली है। आँखों में मोतिया बिन्द, कमर घुटनों में दर्द, खाँसी, अनिद्रा जैसी व्याधियाँ, घायल गधे पर उड़ने वाले कौओं की तरह आक्रमण की तैयारी कर रही है। अपाहिज और अपंग की तरह कटने वाली जिंदगी कितनी भारी पड़ेगी। यह सोचने को जी नहीं चाहता, वह डरावना और घिनौना दृश्य एक क्षण के लिए भी आँखों के सामने आ खड़ा होता है तो रोम-रोम काँपने लगता है? पर उस अवश्यम्भावी भवितव्यता से बचा जाना सम्भव नहीं? जीवित रहना है तो इसी दुर्दशाग्रस्त स्थिति में पिसना पड़ेगा। बच निकलने का

कोई रास्ता नहीं। क्या यही मैं हूँ? क्या इसी निरर्थक विडम्बना के कोल्हू के चक्कर काटने के लिए 'मैं' जन्मा? क्या जीवन का यही स्वरूप है? मेरा अस्तित्व क्या इतना ही तुच्छ है?

आत्म चिन्तन कहेगा—नहीं—नहीं—नहीं। आत्मा इतना हेय और हीन नहीं हो सकता। वह इतना अपङ्ग और असमर्थ—पराश्रित और दुर्बल कैसे होगा? यह तो प्रकृति के पराधीन पेड़-पौधों जैसा—मक्खी, मच्छरों जैसा जीवन हुआ। क्या इसी को लेकर—मात्र जीने के लिए मैं जन्मा। सो भी जीना ऐसा जिसमें न चैन, न खुशी, न शान्ति, न आनन्द, न सन्तोष। यदि आत्मा—सचमुच परमात्मा का अंश है तो वह ऐसी हेय स्थिति में पड़ा रहने वाला हो ही नहीं सकता। या तो मैं हूँ ही नहीं। नास्तिकों के प्रतिपादन के अनुसार या तो पाँच तत्वों के प्रवाह में एक भँवर जैसी बबूले जैसी क्षणिक काया लेकर उपज पड़ा हूँ और अगले ही क्षण अभाव के विस्मृति गर्त में समा जाने वाला हूँ। या फिर कुछ हूँ तो इतना तुच्छ और अपङ्ग हूँ जिसमें उल्लास और सन्तोष जैसा—गर्व और गौरव जैसा—कोई तत्व नहीं है। यदि मैं शरीर हूँ तो-हेय हूँ। अपने लिए और इस धरती के लिए भारभूत। पवित्र अन्न को खाकर घृणित मल में परिवर्तन करते रहने वाले—कोटि-कोटि छिद्रों वाले इस कलेवर से दुर्गन्ध और मलीनता निसृत करते रहने वाला—अस्पर्श्य-घिनौना हूँ 'मैं'। यदि शरीर हूँ तो इससे अधिक मेरी सत्ता होगी भी क्या?

मैं यदि शरीर हूँ तो उसका अन्त क्या है? लक्ष्य क्या है? परिणाम क्या है?—मृत्यु—मृत्यु—मृत्यु। कल नहीं तो परसों वह दिन तेजी से आँधी तूफान की तरह उड़ता उमड़ता चला आ रहा है, जिसमें आज की मेरी यह सुन्दर सी काया—जिसे मैंने अत्यधिक प्यार किया—प्यार क्या जिसमें पूरी तरह समर्पित हो गया—घुल गया, अब वह मुझसे विलग हो जायेगी। विलग ही नहीं अस्तित्व भी गँवा बैठेगी। काया में घुला हुआ 'मैं'—मौत के एक ही थपेड़े में कितना कुरूप—कितना विकृत—कितना निरर्थक— कितना घृणित

हो जाऊँगा कि उसे प्रिय परिजन तक—कुछ समय और उसी घर में रहने देने के लिए सहमत न होंगे जिसे मैंने ही कितने ही अरमानों के साथ—कितने कष्ट सहकर बनाया था। क्या यही मेरे परिजन हैं? जिन्हें लाड़ चाव से पाला था। अब ये मेरी इस काया को—घर में से हटा देने के लिए—उसका अस्तित्व सदा के लिए मिटा देने के लिए क्यों आतुर हैं? कल वाला ही तो मैं हूँ।

मौत के जरा से आघात से मेरा स्वरूप यह कैसा हो गया। अब तो मेरी मृत काया—हिलती डुलती भी नहीं— बोलती, सोचती भी नहीं? अब तो उसके कुछ अरमान भी नहीं हैं। हाय, यह कैसी मलीन, दयनीय, घिनौनी बनी जमीन पर लुढ़क रही है। अब तो यह पलंग बिस्तर पर सोने तक का अधिकार खो बैठी। कुशाओं वान से ढकी—गोबर से लिपी गीली भूमि पर यह पड़ी है। अब कोई चिकित्सक भी इसका इलाज करने को तैयार नहीं। कोई, बेटा, पोता गोदी में नहीं आता। पत्नी छाती तो कूटती है, पर साथ सोने से डरती है। मेरा पैसा—मेरा वैभव—मेरा सम्मान हाय रे सब छिन गया—हाय रे मैं बुरी तरह लुट गया। मेरे कहलाने वाले लोग ही—मेरा सब कुछ छीनकर मुझे इस दुर्गति के साथ घर से निकाल रहे हैं। क्या यही अपनी दुर्दशा कराने के लिए मैं जन्मा? यही है क्या मेरा अन्त—यही था क्या मेरा लक्ष्य, यही है क्या मेरी उपलब्धि। जिसके लिए कितने अरमान सँजोये थे, जिसके लिए कितने पुरुषार्थ किये थे—क्या उसका निष्कर्ष यही है? यही हूँ मैं-जो मुर्दा बना पड़ा हूँ—और लकड़ियों की चिता में जलकर अगले ही क्षण अपना अस्तित्व सदा के लिए खोने जा रहा हूँ।

लो अब पहुँच गया मैं चिता पर। लो, मेरा कोमल मखमल्त जैसा शरीर—जिसे सुन्दर, सुसज्जित, सुगन्धित बनाने के लिए घण्टों श्रृंगार किया करता था, अब आ गया अपनी असली जगह पर। लकड़ियों का ढेर—उसके बीच दबाया दबोचा हुआ मैं। लो यह लगी आग। लो, अब मैं जला। अरे मुझे जलाओ मत। इन खूबसूरत

हड्डियों में मैं अभी और रहना चाहता हूँ, मेरे अरमान बहुत हैं, इच्छाएँ तो हजार में से एक भी पूरी नहीं हुई। मुझे मेरी उपार्जित सम्पदाओं से अलग मत करो, प्रियजनों का वियोग मुझे सहन नहीं। इस काया को जरा-सा कष्ट होता था तो चिकित्सा, उपचार में बहुत कुछ करता था। इस काया को इस निर्दयता पूर्वक मत जलाओ। अरे स्वजन और मित्र कहलाने वाले लोगों—इस अत्याचार से मुझे बचाओ। अपनीआँखों के आगे ही मुझे इस तरह जलाया जाना तुम देखते रहोगे। मेरी कुछ भी सहायता न करोगे! अरे यह क्या—बचाना तो दूर उलटे तुम्हीं मुझ में आग लगा रहे हो। नहीं-नहीं, मुझे जलाओ मत-मुझे मिटाओ मत। कल तक मैं तुम्हारा था-तुम मेरे थे-आज ही क्या हो गया जो तुम सबने इस तरह मुझे त्याग दिया? इतने निष्ठुर तुम सब क्यों बन गये? मैं और मेरा संसार क्या इस चिता की आग में ही समाप्त हुआ? सपनों का अन्त—अरमानों का विनाश—हाय री चिता—हत्यारी चिता, तू मुझे छोड़। मरने का जलने का मेरा जरा भी जी नहीं है। अग्नि देवता तुम तो दयालु थे। सारी निर्दयता मेरे ही ऊपर उँड़ेलने के लिए क्यों तुल गये?

लो, सचमुच मर गया। मेरी काया का अन्त हो ही गया। स्मृतियाँ भी धुँधली हो चलीं। कुछ दिन चित्र फोटो जिये। श्राद्ध तर्पण का सिलसिला कुछ दिन चला। दो तीन पीढ़ी तक बेटे पोतों को नाम याद रहे। पचास वर्ष भी पूरे न हो पाये कि सब जगह से नाम निशान मिट गया। अब किसी को बहुत कहा जाय कि इस दुनिया में 'मैं' पैदा हुआ था। बड़े अरमानों के साथ जिया था, जीवन को बहुत सँजोया, सँभाला था, उसके लिए बहुत कुछ किया था, पर वह सारी दौड़-धूप ऐसे ही निरर्थक चली गई। मेरी काया तक ने मेरा साथ न दिया—जिसमें मैं पूरी तरह घुल गया था। जिस काया के सुख को अपना सुख और जिसके दुःख को समझा। सच तो यह है कि मैं ही काया था और मैं ही आत्मा था हम दोनों की हस्ती एक हो गई थी; पर यह क्या अचम्भा हुआ, मैं अभी भी मौजूद हूँ।

वायुभूत हुआ आकाश में मैं अभी भी भ्रमण कर रहा हूँ। पर वह मेरी अभिन्न सहचरी लगने वाली काया न जाने कहाँ चली गई। अब वह मुझे कभी नहीं मिलेगी क्या? उसके बिना मैं रहना नहीं चाहता था, रह नहीं सकता था, पर हाय री निर्दय नियति। तूने यह क्या कर डाला। काया चली गई। मैं अकेला ही वायुभूत भ्रमण कर रहा हूँ। एकाकी-नितान्त एकाकी। जब काया ने ही साथ छोड़ दिया तो उसके साथ जुड़े हुए परिवार भी क्या याद रखते—क्यों याद रखते? याद रखे भी रहे हों तो अब उससे अपना बनना भी क्या है?

-मैं काया हूँ। यह जन्म के दिन से लेकर-मौत के दिन तक मैं मानता रहा। यह मान्यता इतनी प्रगाढ़ थी कि कथा पुराणों की चर्चा में आत्मा काया की पृथकता की चर्चा आये दिन सुनते रहने पर भी गले से नीचे नहीं उतरती थी। शरीर ही तो मैं हूँ—उससे अलग मेरी सत्ता भला किस प्रकार हो सकती है? शरीर के सुख-दुःख के अतिरिक्त मेरा सुख-दुःख अलग क्योंकर होगा? शरीर तो प्रत्यक्ष है—आत्मा अलग है, उसके स्वार्थ, सुख-दुःख अलग हैं यह बातें कहने-सुनने भर की ही हो सकती है। सो रामायण, गीता वाले प्रवचनों की हाँ में हाँ तो मिलाता रहा पर उसे वास्तविकता के रूप में कभी स्वीकार न किया।

पर आज देखता हूँ कि वह सचाई थी जो समझ में नहीं आई और वह झुठाई थी जो सिर पर हर घड़ी सवार रही। शरीर ही मैं हूँ। यही मान्यता शराब की खुमारी की तरह नस-नस में भरी रही। बोतल पर बोतल छानता रहा तो वह खुमारी उतरती भी कैसे? पर आज आकाश में उड़ता हुआ वायुभूत एकाकी-'मैं' सोचता हूँ। झूठा जीवन जिया गया, झूठे बनकर जिया। सचाई आँखों से ओझल ही बनी रही। मैं एकाकी हूँ, शरीर से भिन्न हूँ। आत्मा हूँ। यह सुनता जरूर रहा पर मानने का अवसर ही नहीं आया। यदि उस तथ्य को जाना ही नहीं माना भी होता तो वह अलभ्य अवसर जो हाथ से चला गया, इस बुरी तरह न आता। जीवन जिस मूर्खतापूर्ण रीति-नीति से जिया गया वैसा न जिया जाता।

शरीर मेरा है—मेरे लिए है, मैं शरीर नहीं हूँ। यह छोटी सी सचाई यदि समय रहते समझ में आ गई होती तो मनुष्य जीवन जैसे सुरदुर्लभ सौभाग्य का लाभ लिया गया होता, पर अब क्या हो सकता है। अब तो पश्चाताप ही शेष है। भूल भरी मूर्खता के लिए न जाने कितने लम्बे समय तक रुदन करना पड़ेगा?

आत्म बोध-आन्तरिक कायाकल्प-प्रत्यक्ष स्पर्श

'मैं' कौन हूँ, क्यों हूँ, किसका हूँ? यह प्रश्न ऐसे हैं जिनको उपेक्षित—बिना हल किया हुआ, छोड़ दिया जाय तो वह लापरवाही बहुत मँहगी पड़ती है। जीवन का सारा आनन्द ही चला जाता है। आनन्द ही नहीं चला जाता, वरन् इस उलझी हुई गुत्थी में उलझ कर मनुष्य ऐसी जिन्दगी जीने के लिए विवश होता है जिसे नीरस और भारभूत ही कहा जा सके।

ऊपर मन:स्थिति का चित्रण किया गया है जिसमें अपने आपको शरीर मान लेने से सांसारिक सुख-दु:ख, हानि-लाभ, मान-अपमान किस तरह उद्विग्न उद्वेलित करते हैं और हर परिस्थिति, आशङ्का एवं असंतोष से भरी रहती है। जो कुछ उपार्जन किया था उसका हर्ष रत्ती भर होता है और उसके साथ जुड़ी हुई विषमताओं का चिन्तन पहाड़ भर। जिसमें हर्ष स्वल्प और विषाद अपरिमित हो ऐसी जिन्दगी जीकर कौन अपने आपको सौभाग्यशाली मानेगा?

किन्तु अपने संबंध में सही ढङ्ग से सोचने की विधि हाथ लग जाय तो देखते-देखते जादू की तरह असन्तोष और उद्वेग की स्थिति संतोष और उल्लास से भर जाती है। आगे और पीछे जो अन्धकार दीख रहा है उसे प्रकाश में परिणित होते देर नहीं लगती। इसी स्थिति को आत्मज्ञान कहते हैं। इसे एक प्रकार का आन्तरिक काया-कल्प ही कहना चाहिए। सुना है किन्हीं दिव्य विधियों से वृद्ध और जीर्ण शरीर को नवयौवन की स्थिति में बदला जा सकना सम्भव है। उस विधि को काया-कल्प कहते हैं। शारीरिक काया-

कल्प के उदाहरण और प्रयोग इन दिनों प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पड़ते, पर आत्मिक काया-कल्प हर किसी के लिए सम्भव है। आज ही—अभी ही वह स्थिति प्राप्त की जा सकती है जिसके आधार पर गरीबी को अमीरी में-दुर्भाग्य को सौभाग्य में—शत्रुओं को मित्रों में, आशङ्काओं को—उल्लास में परिवर्तित किया जा सके। इस अन्धकार को प्रकाश में परिणित करने वाली प्रक्रिया को आत्म-बोध कहते हैं। यह आत्म-बोध कोई दैवी वरदान, जादू या चमत्कार नहीं है, सिर्फ उस मान्यता और श्रद्धा का नाम है जो अपने स्वरूप को सही रूप में समझने का अवसर देती है। इतनी सामर्थ्य प्रदान करती है कि पिछले ढर्रे को बदल कर नये सिरे से वस्तुस्थिति के अनुरूप सोचने और करने की पद्धति को अपनाया—कार्यान्वित किया जा सके।

आत्म-बोध-आत्मोत्थान, आत्म साक्षात्कार, जीवन का सबसे बड़ा लाभ है। इससे बड़ी उपलब्धि इस मनुष्य के लिए और कोई दूसरी हो ही नहीं सकती। मैं क्या हूँ? कौन हूँ? किस लिये हूँ, इस तथ्य को समझ लेने के बाद यह भी अनुभूति होने लगती है कि उपकरण, औजार एवं पदार्थों का उपयोग, उपभोग-संबंध, स्नेह की सीमा कितनी रहनी चाहिए, इस सीमा का स्वरूप और निर्धारण जब भी, जो भी कर लेगा वह दिव्य-जीवन जियेगा सुख-शान्ति से ओत-प्रोत रहेगा और सर्वत्र धरती के देवताओं की तरह महामानवों की तरह हर किसी के अन्तरङ्ग पर श्रद्धा भरा शासन करेगा।

मैं क्या हूँ? इस प्रश्न का उत्तर-शरीर हूँ, के रूप में ही हमारी अन्तःमान्यता देती है, सो परिवर्तनशील प्रकृति के साथ जुड़ी हुई परिवर्तनीय प्रतिक्रियाएँ देह के साथ भी जुड़ी ही रहेंगी। सम्बन्धित पदार्थ भी बदलेंगे ही और जिनके साथ स्नेह सम्बन्ध है उनमें भी भौतिक कारणों से अन्तर आवेगा और दिन की तरह प्रिय-अप्रिय द्वन्द्वों का फेर चलता ही रहेगा और उस भूल में क्षण-क्षण में प्रिय-अप्रिय अनुभव होते ही रहेंगे। दृष्टिकोण में निषेधात्मक तत्व अधिक होने से एक और भूल होती रहेगी कि शरीर को-संसार द्वारा जो

सुख-सुविधायें मिल रही हैं उन्हें देखना समझना और मोद मनाना सम्भव न हो सकेगा, इसके विपरीत जो अभाव अभियोग हैं वे ही आँखों के आगे खड़े रहेंगे। इस स्थिति में किसी सुसम्पन्न व्यक्ति के लिए भी यह सम्भव नहीं कि वह सुख-शान्ति का अनुभव कर सके।

आमतौर से हर व्यक्ति यही प्रयास करता है कि—दूसरे लोग उसे बड़ा, सुखी या सम्पन्न समझें। इसी का ढाँचा खड़ा करने में उसकी सारी शक्ति लगी रहती है। सारे प्रयास इसी परिधि के इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं। वस्त्र-आभूषण, शृंगार, ठाठ-बाट, डिग्री, पद आदि के बड़प्पन प्रदर्शित करने वाले आवरण बड़ी कठिनाई से जमा किये जाते हैं और उसी संचय में सारा समय, श्रम, एवं मनोयोग खप जाता है। दूसरे लोग अपनी ही समस्याओं में उलझे होते हैं, उन्हें किसी की अमीरी, गरीबी का मूल्यांकन करने में क्या रुचि हो सकती है, पर हर व्यक्ति समझता यही है कि सब का सारा ध्यान मेरे ही ऊपर केन्द्रित है और यह मनोवैज्ञानिक भूल मनुष्य को उस निरर्थक क्रियाकलाप और चिन्तन में लगाये रहती है। जिसे तात्विक दृष्टि से पूर्णतया निरर्थक कहा जा सके। किसी ने-कुछ देर के लिए-हमें साधन सम्पन्न-अमीर-बड़ा आदमी जान या मान भी लिया तो इससे क्या तो अपना प्रयोजन सधा और क्या उसे लाभ हुआ?

आत्म-बोध न होने से मनुष्य की महत्त्वाकांक्षायें—चेष्टाएँ—योजनाएँ—गति-विधियाँ, एक प्रकार से निरर्थक कामों में—लगी रहती हैं और बहुमूल्य मानव-जीवन ऐसे ही उन विडम्बनाओं में लग जाता है। जो सुख-साधन भौतिक-जीवन में उपलब्ध थे, उनको भी दृष्टिकोण के कारण समझा और सराहा नहीं जाता। स्त्री, सन्तान, शरीर, शिक्षा सहायक, साधन जो कुछ भी मिले हुए हैं उनके मूल्य, महत्व को भी यदि समझने की चेष्टा की जाय-इनसे मिलने वाली सहायता सुविधा का लेखा-जोखा लिया जाय, तो भी हर व्यक्ति को अपनी स्थिति बहुत हद तक हर्ष, सन्तोष से भरी हुई प्रतीत हो सकती है; पर इस दुर्भाग्य को क्या कहा जाय, जिसके अनुसार

केवल अभाव, और छिद्र ही दिखाई पड़ते हैं। अपनी कुरूपता हर किसी को कुरूप प्रस्तुत करती है। आन्तरिक दुर्बलता, आशङ्का—अविश्वास, अवरोध, द्वेष घृणा के रूप में फुफकारती और वातावरण को विषाक्त करती रहती है। सो इन्हीं विडम्बनाओं में उलझा हुआ—विभीषिकाओं से संत्रस्त, आशंकाओं से उद्विग्न—मनुष्य अन्तर्दाह की आग में हर क्षण जलता हुआ नारकीय जीवन जीता है। यह सब आत्म-बोध न होने का ही परिणाम है।

मैं क्या हूँ? इसका उत्तर अपने अब तक के चले आ रहे ढर्रे वाले अभ्यास के अनुरूप नहीं वरन् तत्वचिन्तन के आधार पर देना चाहिए। दूसरे लोग क्या कहते हैं—क्या सोचते हैं और क्या करते हैं—इससे भी हमें प्रभावित नहीं होना चाहिए। निस्संदेह वातावरण अन्धकार भरा है। प्राचीनकाल में सतयुगी व्यक्तित्व, कर्तृत्व और वातावरण-शुद्ध चिन्तन में सहायता करता था, उससे प्रभावित हर नागरिक को सही दिशा मिलती थी। आज सब कुछ उल्टा है, यदि आज वस्तुस्थिति समझने के लिये लोग क्या कहते हैं और क्या करते हैं उसे आधार बनाया जाय तो निश्चित रूप से हमें अवांछनीय निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा और अनुचित रीति-नीति अपनाने के लिए विवश होना पड़ेगा।

आत्म-बोध की पहली सीढ़ी यह है कि लोक-चिन्तन की अवांछनीयता को समझा जाय और अपनी अब तक की ढर्रे पर लुढ़कती हुई मान्यताओं के औचित्य को अस्वीकार किया जाय। काया-कल्प में पुराना शरीर छोड़ना पड़ता है और नया ग्रहण करना पड़ता है। विवाह होने पर वधू पितृ-गृह छोड़ती है और साथ ही अब तक का स्वभाव अभ्यास भी। उस नवविवाहिता को पति के घर में जाकर नये स्वजनों से घनिष्ठता बढ़ानी पड़ती है और ससुराल की विधि-व्यवस्था में अपने को ढालना होता है। ठीक ऐसा ही परिवर्तन आन्तरिक काया-कल्प के अवसर पर करना पड़ता है। आत्म-बोध एक प्रकार से अन्धकार परित्याग कर प्रकाश को वरण करना है।

इसके लिए क्रान्तिकारी कदम उठा सकने वाले साहस की जरूरत पड़ती है। ढर्रे में राई-रत्ती अन्तर करने से काम नहीं चलता। यह पढ़ने और सुनने की नहीं सर्वतोमुखी परिवर्तन की प्रक्रिया है। एक लोक को छोड़कर दूसरे लोक में जाने—एक शरीर त्याग कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने जैसी इस प्रक्रिया को जो कोई सम्पन्न कर सके उसे ही आत्मज्ञानी कहा जायेगा। आत्म-बोध और आत्म-साक्षात्कार इसी स्थिति का नाम है। ब्रह्म सम्बन्ध, आत्म-दर्शन, दीक्षा लाभ चक्षु उन्मीलन, दिव्य जागरण इसी को कहते हैं। यह छलांग जो लगा सके उसे इस दुस्साहस का परिणाम दूसरे ही क्षण परिलक्षित होगा। अपने को तत्काल नरक में से निकाल कर स्वर्ग में अवस्थित अनुभव करेगा। मैं क्या हूँ? इस प्रश्न का समाधान, इतना बड़ा लाभ है कि उस पर समस्त संसार की समग्र सम्पदाओं को निछावर किया जा सकता है।

व्यक्ति जब अपने को ईश्वर का परम-पवित्र अविनाशी अंश समझता है; आत्मा के रूप में अनुभव करता है और शरीर को एक उपकरण भर स्वीकार करता है। तो उसे अपनी पिछली मान्यताओं, आकाँक्षाओं योजनाओं और गतिविधियों में आमूल चूल परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव होती है। सम्बन्धित वस्तुएँ संग्रह करके निरर्थक मोह बढ़ाने के लिए नहीं, वरन् सदुपयोग भर के लिए अपने पास एकत्रित हुई हैं। यह निष्ठा जब जमती है तो फिर लोभ और मोह में परले सिरे की मूर्खता ही दिखाई देती है। सम्पदा प्रकृति का ही एक रूप है। यह अनादि काल से चली आ रही है और अनन्तकाल तक चली जायेगी। जो सोना अपने पास आज है वह सृष्टि के जन्मकाल से ही इस संसार में विद्यमान था। उस पर लाखों व्यक्ति कुछ-कुछ देर के लिए अपना अधिकार बनाते चले आ रहे हैं। प्रलय-काल तक वह सोना बना रहेगा और उस पर करोड़ों व्यक्ति अपना अधिकार जमाते चले जायेंगे। जमीन, जायदाद, वस्तुएँ आदि सृष्टि के साथ जन्मी और उसके रहने तक इस दुनिया में बनी रहेंगी, कुछ समय के लिए वे अपने साथ संयोगवश जुड़ गईं

तो उन्हें अपनी मान बैठना, उनके संग्रह का लोभ करना, कैसे उचित ठहराया जा सकता है? पदार्थों का मोह जिस शरीर के साथ जुड़ा हुआ है वह शरीर ही कल परसों जाने की तैयारी में बैठा है फिर पदार्थों का-सम्पदा साधनों का लोभ किए लिए?

उपलब्ध सम्पत्ति का सदुपयोग ही सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता है उसकी जमाखोरी में कोई समझदारी नहीं। उपार्जन को श्रेष्ठ प्रयोजनों में लगाना चाहिए। बेटे-पोतों के लिए उत्तराधिकार-का ताना बाना बुनना सदुपयोग नहीं। अपने साथ मोह बन्धनों में बँधे हुए चन्द व्यक्तियों को अपने श्रम का सार उपार्जन सौंप दिया जाय और वे उस हराम की कमाई पर गुलछर्रे उड़ायें इस विडम्बना में क्या औचित्य है? श्रम उपार्जन का खाकर ही कोई व्यक्ति उसका लाभ लेता है, हराम की कमाई तो हर किसी को गलाती है। आत्मवादी की सुनिश्चित मान्यता यही हो सकती है। जिसकी समझ में यह तथ्य आ गया उसे नये सिरे से अपनी सम्पत्ति के बारे में चिन्तन करना पड़ेगा और आश्रित, असमर्थ परिजनों की उचित व्यवस्था के अतिरिक्त जो कुछ उसके पास बच जाता है उसे लोक-मङ्गल के लिए नियोजित करने का ही निर्णय करना पड़ता है। आत्म-बोध के साथ यदि इस स्तर का दुस्साहस जुड़ा हुआ न हो तो उसे बकवादियों का बाल-विनोद ही कहा जायेगा। असंख्यों व्यक्ति स्वाध्याय सत्संग के नाम पर धर्म और अध्यात्म की लम्बी-चौड़ी बकवास करते और सुनते रहते हैं। जो चिन्तन-जीवन को प्रभावित न कर सके उसे मनोविनोद के अतिरिक्त और क्या कहा समझा जा सकता है।

परिवार के रूप में जुड़े हुए कुछ व्यक्ति ही अपने हैं? अपना प्यार उन्हीं तक सीमित रहना चाहिए? उन्हीं तक अपनी सारी महत्वाकांक्षायें सीमित कर लेनी चाहिए, यह रीति-नीति उससे बन ही नहीं पड़ेगी जो अपने को 'आत्मा' मानेगा। आत्म-ज्ञान का प्रकाश आते ही दृष्टिकोण में उस विशालता का समावेश होता है जिसके अनुसार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मानने से कम में किसी भी प्रकार संतोष नहीं हो सकता।

भगवान् के उद्यान के रूप में—सम्बन्धित परिवार को कर्त्तव्य-निष्ठ माली की तरह सींचना सँजोना बिलकुल अलग बात है और बेटे-पोतों के लिए मरते-खपते रहना अलग बात, बाहर से देखने में यह अन्तर भले ही दिखाई न पड़े पर दृष्टिकोण की कसौटी पर रखने पर जमीन आसमान जितना अन्तर मिलेगा। मोहग्रस्त मनुष्य अपने कुटुम्बियों की सुविधा, सम्पदा बढ़ाने और इच्छा पूरी करने की धुन में उचित अनुचित-आवश्यक-अनावश्यक का भेद भूल जाता है और घरवालों की इच्छा तथा खुशी के लिए वह व्यवस्था भी जुटाता है जो न आवश्यक है न उपयुक्त। मोह-ग्रस्त के पास विवेक रह ही नहीं सकता।

परिष्कृत दृष्टि से कुटुम्बियों को समुन्नत, सुसंस्कारी, सुविकसित बनाने के कर्त्तव्य को ही ध्यान में रखकर पारिवारिक विधि-व्यवस्था निर्धारित की जाती है। उसमें यह नहीं सोचा जाता कि कौन राजी रहा कौन नाराज हुआ। चतुर माली अपनी दृष्टि से पौधों को काटता छाँटता-निराता गोड़ता है, पौधों की मर्जी से नहीं। विवेकवान् गृह-पति केवल एक ही दृष्टि रखता है कि परिवार को सुसंस्कारी और सुविकसित बनाने के लिए जो कठोर कर्त्तव्य पालने चाहिए उनका पालन अपनी ओर से किया जा रहा है या नहीं। परिजनों की इच्छाओं का नहीं उनके हित साधन का ही उसे ध्यान रहता है। आत्मबोध के साथ परिवार के प्रति इसी दृष्टिकोंण के अनुरूप आवश्यक हेर-फेर करना पड़ता है। तब वह मोह छोड़ता है और प्यार करता है। प्यार के आधार पर की गई परिवार सेवा उसके स्वयं के लिए और समस्त परिवार के लिए परम-मङ्गलमय सिद्ध होती है।

अपने शरीर के बारे में भी आत्म-बोध के प्रकाश में नई रीति-नीति ही अपनानी पड़ती है। उसे वाहन उपकरण मात्र मानना पड़ता है। आत्मा की भूख के लिए शरीर से काम लेने और शरीर की लिप्सा के लिए आत्मा को पतन के गर्त में डालने की दृष्टि में जमीन आसमान जितना अन्तर है। शरीर और मन को 'मैं' मान

बैठने पर इन्द्रियों की वासनायें और मन की तृष्णायें ही जीवनोद्देश्य बन जाती हैं और उन्हीं की पूर्ति में निरन्तर लगा रहना पड़ता है। पर जब वह मान्यता हट जाती और अपने को आत्मा स्वीकार कर लिया जाता है तो मन को बलात् उस चिन्तन में नियोजित किया जाता है जिससे आत्म-कल्याण हो और शरीर से वह कार्य कराये जाते हैं जो आत्मा का गौरव बढ़ाते हों उसका भविष्य उज्ज्वल बनाते हों।

आत्म-बोध, एक श्रद्धा है। आत्म-साक्षात्कार एक दर्शन है, जिसे यदि सचाई के साथ हृदयंगम किया जाय तो दृष्टिकोण ही नहीं बदलता वरन् क्रिया-कलाप भी बदल जाता है। इस परिवर्तन को ही आत्मिक कायाकल्प कहते हैं। यह जिस क्षण भी सम्भव हो जाय उसी दिन अपने में भारी शान्ति, संतोष, उल्लास और उत्साह दृष्टिगोचर होता है और लगता है मानो नरक से निकल कर स्वर्ग में आ गये।

जीव पर दो प्रकृतियों की छाया

दो वस्तुओं के मिलने से एक तीसरी चीज बनती है। दिन और रात्रि की मिलन बेला को संध्या कहते हैं। संध्या न रात है और न दिन, पर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उसमें दोनों का ही अस्तित्व मौजूद है। सोड़ा कास्टिक और तेल मिल कर साबुन बन जाता है। साबुन न तेल के सदृश है और न सोड़ा के। उसका रूप दोनों से भिन्न है। फिर भी परीक्षण के बाद उन दोनों ही वस्तुओं का साबुन में अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है। प्राणी भी ऐसे ही दो सम्मिश्रणों का एक तीसरा रूप है। परब्रह्म परमात्मा और पंच भौतिक प्रकृति इन दोनों के सम्मिश्रण से जो तीसरी सत्ता उत्पन्न होती है उसका नाम जीव है। ब्रह्म चेतन है इसलिए उसका गुण आत्मिक चेतना, अन्तःकरण एवं भावना के रूप में मौजूद है। प्रकृति जड़ है इसलिए शरीर का सारा ही ढाँचा जड़ है। जीव की चेतना एवं प्रेरणा से वह चलता है। जब वह चेतना तनिक भी अशक्त या अस्त-व्यस्त होती है तो शरीर का सारा ढाँचा ही लड़खड़ा जाता है सारा खेल ही खतम

हो जाता है। साइकिल चलाने वाले के पैरों में जब तक दम है तभी तक पहिये घूमते हैं जब पैर थक गये तो साइकिल का चलना भी बन्द हो जाता है। शरीर में जो क्रियाशीलता दिखाई पड़ती है। वह जीव की उपस्थिति और शक्ति का चिन्ह है। यह शक्ति कुण्ठित होते ही शरीर दुर्बल, वृद्ध, रुग्ण और मृतक बन जाता है और तब वह घृणित लगने लगता है। निर्जीव होने पर तो जल्दी से जल्दी उसकी अन्त्येष्टि ही करनी पड़ती है। पंच तत्व अपने अपने तत्वों में मिल जाते हैं वह सम्मिश्रण समाप्त हो जाने से दोनों को अपने अपने स्वतंत्र रूप में पहुँच जाना पड़ता है।

जड़ और चेतन के अपने-अपने गुण धर्म भी हैं। ईश्वर चेतन है इस लिए उसका अंश-जीव-चेतन तो है ही साथ ही उसमें वे सब विशेषताएँ भी बीज रूप में मौजूद हैं जो उसके मूल उद्‌गम ब्रह्म में ओतप्रोत हैं। ईश्वर सत्‌चित्‌ और आनन्द स्वरूप हैं। जीव में भी सत्य में ही प्रसन्नता तथा सन्तोष अनुभव करने की प्रकृति है। कोई व्यक्ति स्वार्थवश स्वयं भले ही दूसरों से असत्य व्यवहार करते हैं तो बड़ा अप्रिय लगता है और दुःख होता है। हर किसी को यही पसन्द होता है कि दूसरे उसके साथ पूर्ण निष्कपट तथा सचाई का व्यवहार करें, छल और धोखे की बात सुनते ही मन में भय आशङ्का और घृणा उत्पन्न होती है। इससे स्पष्ट है कि जीव अपने उद्‌गम केन्द्र ब्रह्म का 'सत्' गुण अपने अन्दर गहराई तक धारण किये हुए है।

चित्‌ अर्थात्‌ चेतना सक्रियता। जीव भी ईश्वर की भाँति ही आजीवन, निरन्तर, सक्रिय रहता है। सोते समय, मूर्छा के समय केवल मस्तिष्क का एक छोटा भाग अचेत होता है। बाकी समस्त शरीर हर घड़ी काम करता रहता है। रक्त सञ्चार, श्वास-प्रश्वास, पाचन, स्वप्न आदि की क्रियाएँ बराबर चलती रहती हैं। शरीर के सभी कल पुर्जे अचेतन कहे जाने वाले मस्तिष्क के सहारे ठीक वैसा ही काम करते रहते हैं जैसे जागते रहने पर होता था। विचार, भावना, विवेक, उत्साह, स्फूर्ति एवं क्रियाशीलता को चेतनता का ही

अङ्ग कहा जायेगा। ईश्वर चित् अर्थात् चेतन है तो जीव भी वैसा ही क्यों न रहेगा। जब परमात्मा की सत्ता समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक होकर असंख्य प्रकार की प्रक्रियाएँ निरन्तर सञ्चारित रखती है तो जीव भी पिण्ड में, शरीर में व्याप्त होकर अहिर्निश अपना चेतना व्यापार क्यों जारी न रखेगा?

परमात्मा आनन्द स्वरूप है। उसकी प्रत्येक क्रिया आनन्द पूर्ण है, आनन्द के लिए है। आनन्द उद्भव एवं विस्तार करने के लिए है। उसने क्रीड़ा करने के लिए—खेल खेलने के लिए—विनोद और मनोरञ्जन के लिए—यह सारा संसार रचा है। लीलाधर की लीलाएँ उसी के स्वयं के लिए ही नहीं प्रत्येक चराचर के लिए आह्लाद और उल्लास प्रदान करने वाली हैं। प्राणी भी आनन्द की ही खोज में निरन्तर संलग्न रहता है। उसे अपनी समझ के अनुसार जहाँ कहीं भी आनन्द दीखता है वहीं जा पहुँचता है, जो वस्तुएँ उसे आनन्ददायक लगती हैं उन्हें ही प्राप्त करने की चेष्टा करता है। सच्चा आनन्द और झूठा आनन्द परखने में भूल हो सकती है पर इतना निश्चित है कि हर प्राणी आनन्द चाहता है और अपनी परिष्कृत अथवा अपरिष्कृत बुद्धि के अनुसार जहाँ भी आनन्द दिखाई पड़ता है वहीं रहना चाहता है उसी को प्राप्त करना चाहता है। इसी चाहना, आकाँक्षा के लिए उसका प्रायः सारा ही जीवन उत्सर्ग होता है।

सत्, चित्, आनन्द का सम्मिश्रित रूप ही ब्रह्म है। चूँकि हम सब इन तीनों ही को चाहते हैं और इन्हें ही अधिक मात्रा में प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, इसलिए यही कहना होगा कि हमारी प्रवृत्ति ब्रह्म प्राप्ति की दिशा में है। यही हमारी प्रकृति भी है। इस संसार में समस्त जड़ चेतन अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार प्रवृत्तिरत है। जीव भी इसका अपवाद नहीं हो सकता। उसे ब्रह्म प्राप्ति ही अभीष्ट है। उसके बिना इसका काम क्षण भर भी नहीं चल सकता, इस प्रकृति के विरुद्ध उसे क्षण भर भी चैन नहीं पड़ सकता।

इतना होते हुए भी देखा यह जाता है कि प्राणी अनैतिक, दुष्कर्मों में अधिक रुचि लेता है और आलस और अहङ्कार वासना और तृष्णा के फेर में पड़ा हुआ लोभवश उस ओर चलता है जिस ओर अन्धकार और असन्तोष ही उपलब्ध होने वाला है। इसका कारण जड़ता का जीव पर पड़ने वाला प्रभाव ही है। यह स्पष्ट है कि प्राणी जड़ और चेतन तत्वों का सम्मिश्रित रूप है। चेतन तत्व-ब्रह्म की स्थिति उसे सत्, चित् और आनन्द की ओर उन्मुख रखती है। किन्तु जड़ता के प्रभाव से भी वह अछूता नहीं रहता। प्रकृति की, माया की, जड़ता की छाया भी उस पर बनी रहती है। इस प्रभाव के कारण ही उसे अपना मार्ग निश्चित करने में, उचित गतिविधियाँ अपनाने में बाधा पड़ती है। इसी खींचतान में वह दिग्-भ्रान्त हो जाता है।

जड़ता का प्रभाव जीव पर जितना अधिक होगा उतना ही वह जड़ पदार्थों से प्रेम अधिक करेगा उनका स्वामित्व, संग्रह एवं उपभोग उतना ही उसे अधिक रुचेगा। आलस्य, मोह और अहङ्कार यह जड़ता के प्रधान चिन्ह हैं। जड़ पदार्थ निर्जीव है इसलिये जिनमें जड़ता बढ़ेगी वह उतना ही आलसी बनता जावेगा। प्रयत्न, पुरुषार्थ, परिश्रम में रुचि न होगी, अध्ययन भजन एवं सत्कार्यों में मन न लगना इस बात का चिन्ह है कि 'चित्' ईश्वरीय तत्व का विरोधी 'आलस' आसुरी तत्व अपने अन्दर भर रहा है। उसी प्रकार वस्तुओं को उपकरण मात्र मानकर उनसे सामयिक लाभ उठा लेने की बात न सोच कर उपलब्ध सम्पदा का मौरूसी मान बैठना, उसके छिनने पर रोना चिल्लाना यह प्रकट करता है कि नाशवान और निर्जीव पदार्थों के प्रति अवांछनीय ममता जोड़ ली गई है, अहङ्कार तो असुरता का—तमोगुण का— प्रत्यक्ष चिन्ह है। क्षण-क्षण में बदलती रहने वाली वस्तुओं और परिस्थितियों की अनुकूलता पर जो घमण्ड करता है वह यह भूल जाता है कि इस संसार का प्रत्येक परमाणु अत्यन्त द्रुतगति से अपनी धुरी पर घूमता है और प्रत्येक परिस्थिति तेजी के साथ उलटती-पलटती रहती है फिर पानी में उठने वाले

बबूले की तरह इस क्षण-प्राप्त सौभाग्य पर इतराना क्या? ऐंठना और अकड़ना क्या? जो आज है वह कल कहाँ रहने वाला है, फिर अहङ्कार करने का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है।

लोभ और मोह के वशीभूत होकर वासना और तृष्णा से प्रेरित होकर प्राणी विविध प्रकार के अकर्म और दुष्कर्म करता हुआ जीवन के बहुमूल्य क्षणों का दुरुपयोग करता है। यही अज्ञान है यही माया है, यही अविद्या है। एक ओर आत्मा की सत् चित् और आनन्द की मूल प्रकृति उसे उच्च भूमिका की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देती है। दूसरी ओर जड़ता एवं माया का प्रकोप जीव के ऊपर होता रहता है। एक दिशा में दैवी प्रकृति खींचती है दूसरी तरफ आसुरी प्रकृति जोर लगाती है। फलस्वरूप धर्म क्षेत्र कुरुक्षेत्र—अन्तःकरण में अशान्ति और असंतोष का महाभारत मचा रहता है। जड़ता हमें बन्धन में बाँधती है और चेतना मुक्ति का सन्देश प्रदान करती है।

इस रस्सा कशी में जीतता वही है जिस पर आत्मा अपनी स्वीकृति की मुहर लगा देती है। उसका वोट जिधर पड़ता है उधर ही जीत हो जाती है। किसी बच्चे पर दो माताएँ अपना दावा करें तो न्यायाधीश उस पक्ष में फैसला देता है कि जिसे बच्चा पहचान ले और जिसके पास जाना पसन्द करे। जड़ता और चेतना ऐसी ही माता और विमाता है दोनों ही आत्मा पर अपना दावा करती हैं और उसे अपने पक्ष में फुसलाना चाहती हैं। अच्छाई इतनी ही है कि फैसला आत्मा की अभिरुचि के ऊपर निर्भर रखा गया है। पतन और उत्थान के दोनों ही मार्ग उसके लिये खुले हुए हैं। वह जिसे चाहे उसे पसन्द कर सकती है।

जीव पर दैवी और आसुरी दोनों ही चेतनाओं का प्रभाव है वह जिस ओर उन्मुख होगा वैसा ही उसका स्वरूप बनता जायेगा। जड़ता एवं माया में लिप्त होते चलने पर वह अधोगति का अधिकारी होता है और पाप, पतन, नरक की दुर्गति में निमग्न होता जाता है। पर यदि वह अपनी मूल प्रकृति सत्-चित्-आनन्द का निर्वाह करता

चले तो बन्धन से मुक्ति निश्चित है, फिर उसे पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

अपना स्वरूप, उद्देश्य और लक्ष्य समझें

मनुष्य जीवन इस संसार की सबसे बड़ी विभूति है। प्राणी के लिये ईश्वर का यह सबसे बड़ा उपहार और वरदान है। इससे बड़ा सौभाग्य और सुअवसर किसी जीवधारी के लिये हो नहीं सकता कि वह मनुष्य शरीर प्राप्त करे। ८४ लाख योनियों में से एक मनुष्य को छोड़कर कोई भी ऐसा नहीं जिसको हँसने, बात करने, लिखने, पढ़ने, उत्पादन, उपार्जन, वाहन, वस्त्र, गृहस्थ, समाज, धन, न्याय, सुरक्षा, कानून, मनोरञ्जन आदि की सुविधायें उपलब्ध हों। उन सभी जीवधारियों को जीवित रहने, पेट भरने और प्रजनन मात्र की ही सुविधा हैं शेष तो अभाव एवं असुविधाओं से भरा ही उनका जीवन है। यदि वे मनुष्य के साथ अपनी तुलना करने लगें तो अन्तर आकाश पाताल जैसा दृष्टिगोचर होगा। मनुष्य अपनी अपेक्षा स्वर्गलोक वासी देवताओं को जितना अधिक समर्थ, सुखी और साधन सम्पन्न समझता है उससे कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी स्थिति अन्य जीवधारी— मनुष्य की मानते होंगे।

खेद है कि उतनी महान् उपलब्धि का हमारी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं जँचा। छोटे-मोटे राई-रत्ती जो अभाव दीखते हैं उन्हीं की चिन्ता में हम निरन्तर डूबे रहते हैं और कष्ट, कठिनाई एवं दुर्भाग्य का रोना रोते हुए समय गुजारते रहते हैं। जितना सोच-विचार अभावों का करते हैं उतना ही यदि प्राप्त सुख-सुविधाओं और साधनों पर करने लगें और अन्य जीवधारियों अथवा अपने से गई-गुजरी स्थिति के लोगों से तुलना करने लगें तो प्रतीत होगा कि जितनी सुविधा मिली हुई है उनका विस्तार इतना बड़ा है कि समुचित सन्तोष ही व्यक्त न किया जाय वरन् हर घड़ी आनन्द उल्लास भी मनाया जा सकता है। किन्तु हमारी अधूरी एकाङ्गी एवं विकृत दृष्टि जीवन का

प्रकाशपूर्ण पहलू आँखों से ओझल कर देती है और केवल वह काले धब्बों वाला भाग सामने रखती है जिसमें अभाव और असुविधाओं का थोड़ा-सा चित्रण है। इसी प्रश्न को हम बढ़ा-चढ़ा कर देखते रहते हैं और अपने को दीन-दुःखी अनुभव करते रहते हैं।

अपनों से अधिक धनी या साधन सम्पन्न लोगों से अपनी तुलनाकर जो न्यूनतायें दीखें, उनके लिये रोते-कलपते रहना अथवा सुविधा सम्पन्नों से ईर्ष्या करना एक निकृष्ट और गर्हित दृष्टिकोण है। आज इसी तरह की ओछी विचारणा जन-साधारण के मस्तिष्क में घर जमाये बैठी है और अधिकांश मनुष्य दीन-दुःखी जैसी मनःस्थिति में शोक संतप्त बने हुए दिन गुजारते रहते हैं। जीवन में आनन्द उल्लास का अनुभव ही नहीं होता। कैसी दयनीय स्थिति है यह। यदि परिष्कृत दृष्टिकोण मिल सका होता तो स्थिति कुछ अन्य ही प्रकार की होती। दूसरों के साथ तुलना करने का ही जी था तो साधन सुविधा वालों के साथ नहीं सद्गुणों और सत्प्रवृत्तियों वाले सज्जनों के साथ अपना मुकाबिला किया होता और ईर्ष्या करने की अपेक्षा वैसा ही बनने की स्पर्धा की होती—तो उस बदले हुए दृष्टिकोण ने जीवन का स्वरूप ही बदल दिया होता। तब दुर्भाग्य का रोना-रोने की आवश्यकता न पड़ती वरन् सन्तोष और शान्ति, आनन्द और उल्लास, आशा और उत्साह का ही वातावरण अपने चारों ओर छाया दीखता।

आनन्द छोड़कर दुर्भाग्य वरण करने की अपनी इस विकृत विचारणा का खोट—काश हम समझ सके होते तो कितना अच्छा होता। मनुष्य जीवन की महान् उपलब्धि का गर्व-गौरव—मूल्य-महत्व काश, अपनी समझ में आ गया होता तो हर्ष और सन्तोष की उमङ्गों से भरा सौभाग्य हर घड़ी अनुभव करते होते। पर इस भूल को क्या कहा जाय जिसने अमृत ठुकरा कर विष बटोरने की प्रवृत्ति सिखा दी और उल्लास का परित्याग कर संताप अपनाने की प्रवृत्ति बना दी। अच्छा होता यदि इस भूल को हम समझे होते और अपनी विचारणा की दिशा बदलने के लिये तैयार हुए होते।

परमेश्वर ने मनुष्य जीवन को इतनी बड़ी उपलब्धि जो ८४ लाख योनियों में से किसी को भी नहीं मिली है अकारण ही नहीं दी है। ऐसा करके उसने हमारे साथ पक्षपात एवं दूसरे प्राणियों के साथ अन्याय नहीं किया है। उसके लिये सभी पुत्र—सभी प्राणी—एक समान प्रिय हैं। सभी को समान दृष्टि से देखता और समान प्यार करता है। समान सुविधायें देना भी उसे अभीष्ट है। सब प्राणियों को प्रायः एक सी स्थिति में रखा भी है। मनुष्य को जो अतिरिक्त सुविधायें दी हैं, वे उपभोग के लिए नहीं वरन् किसी अतिरिक्त प्रयोजन के लिये धरोहर रूप में दी हैं। वे मानवीय विशेषतायें जो अन्य प्राणियों को नहीं मिलीं, एक पवित्र थाती के रूप में इसलिये सौंपी गई हैं कि उनका उपयोग ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति के लिए किया जाय, बन्दूक का लाइसेन्स सरकार किसी जिम्मेदार एवं प्रामाणिक व्यक्ति को ही देती है। साथ ही साथ यह शर्त भी लगा देती है कि—"उसका चोरी, डकैती आदि अवांछनीय कार्य में प्रयोग न किया जाय। इतना ही नहीं यदि उस क्षेत्र में किसी की सुरक्षा खतरे में हो तो उस बन्दूक को लेकर मुकाबिला करने के लिए आया जाय।" जो इस शर्त को पूरा नहीं करते, विपरीत आचरण करते हैं सरकार उनकी बन्दूक भर्त्सना पूर्वक जब्त कर लेती है। अपनी स्थिति भी ऐसी ही है। जो अतिरिक्त सुविधायें मिली हैं वे वासना और तृष्णाओं की पूर्ति के लिये नहीं वरन् किन्हीं महान् प्रयोजन के लिये हैं। यदि हम उस उत्तरदायित्व को भुला दें तो ईश्वरीय उद्देश्य को ही व्यर्थ कर देने के अपराधी सहज ही बन जाते हैं।

एक असामान्य और अतिरिक्त उपलब्धि के रूप में—ईश्वरीय उपहार के रूप में—हमें बुद्धिबल मिला है। इसका उपयोग चतुरता और कुशलता पूर्वक किया भी जाता है। इसी विभूति का उपयोग करके हम अनेक साधन सुविधायें उपार्जित करते, बढ़ाते और उनका उपयोग करते रहते हैं। इस उपयोग पर गर्व भी करते और खुशी भी मनाते हैं। पर यह कभी नहीं सोचते कि क्या यह

महान उपलब्धि इसी प्रयोजन के लिए मिली है जिसमें उपयोग किया गया? यदि इस लक्ष्य पर गम्भीरता पूर्वक विचार करें तो दो तथ्य उभर कर सामने आते हैं। एक यह कि ईश्वर पक्षपाती और अन्यायी है; क्योंकि मनुष्य को उसने अगणित सुविधायें दीं और अन्य प्राणियों को उनसे वंचित रखा। दूसरा यह कि यदि ईश्वर न्यायकारी और समदर्शी है तो उसके यह अनुदान उपयोग के लिये किसी ऐसे अतिरिक्त प्रयोजन के लिये हैं जिसे समझने और स्वीकार करने में हम भयङ्कर भूल करते चले जा रहे हैं। ईश्वर को पक्षपाती अन्यायी मानने वाली बात सही नहीं। सचाई यह है कि हम ही जीवनोद्देश्य को समझने में भारी भूल करके ईश्वरीय उद्देश्य को व्यर्थ बनाने और नष्ट करने पर तुले हुए हैं। दूसरों के साथ दिल्लगीबाजी की जा सकती है पर ईश्वर के महान प्रयोजन को झुठलाया नहीं जा सकता, उसके साथ मखौल क़रके चतुरता का दावा नहीं किया जा सकता। यह चतुराई अन्ततः भारी मँहगी पड़ेगी।

पेट और प्रजनन की पूर्ति के लिये किये गये प्रयास किसी बड़ी बुद्धिमत्ता के प्रतीक नहीं हो सकते। कीड़े-मकोड़े और पशु पक्षी भी इन प्रयोजनों की पूर्ति में कुशल और सफल रहते हैं। इतनी भर बात के लिये यदि मनुष्य जीवन जैसी महान् उपलब्धि यों खर्च हो जाय तो इसमें बुद्धिमत्ता की—अतिरिक्त बुद्धिबल के सदुपयोग की बात कहाँ रही? विचारणीय़ यह है कि क्या हम पेट और प्रजनन जैसी पशु प्रवृत्ति के ऊपर उठकर कुछ और चाहते, सोचते और करते हैं? यदि नहीं, तो क्या यही हमारा जीवनोद्देश्य, लक्ष्य और महान् उपलब्धियों का सदुपयोग है? इन प्रश्नों पर बार-बार—हर बार अनेक बार—विचार करना चाहिए। यदि यह दिखाई दे कि हम अनुपयुक्त दिशा में चल रहे हैं और अवांछनीय गतिविधियाँ अपना रहे हैं तो विवेक एवं दूरदर्शिता का तकाजा यही है कि अपनी भूल को सुधारें और उस क्रिया-कलाप को रोकें जिसे अपनाने पर केवल पश्चात्ताप ही हाथ लगने वाला है।

पशु केवल वर्तमान को देखता है। न वह भूतकाल के अनुभवों और निष्कर्षों पर विचार करता है और न आगे होने वाले भले-बुरे परिणामों के सम्बन्ध में सोचता है। उसे केवल आज का—अभी का आकर्षण प्रभावित करता है और उसी से प्रभावित होकर वह जो प्रिय लगता है—करता है। लगता है यही रीति-नीति हमने भी अपना ली है। भूतकाल जितनी विषम योनियों में होकर गुजारा और इस अलभ्य अवसर को-मानव जीवन को गँवा देने पर आत्म-ग्लानि-ईश्वर की नाराजी, कर्त्तव्य भुलाने की प्रताड़ना तथा फिर ८४ लाख योनियों में भ्रमण करने की अन्धकार भरी सम्भावना पर विचार करें तो विवेक यही कहेगा कि जीवनोद्देश्य की पूर्ति के लिये कुछ करना आवश्यक है। वासना और तृष्णा ही सब कुछ नहीं है, इन दो की परिधि में सारी विचारणा और अभिरुचि केन्द्रीभूत किये रहना ही बुद्धिमत्ता नहीं है वरन् यह भी समझदारी ही है कि मानव शरीर जैसे बहुमूल्य सुअवसर का सदुपयोग करने की बात सोची जाय। पेट और प्रजनन के लिए सारा समय और सारा उत्साह नियोजित किये रहना और उन क्षेत्रों में से कुछ क्षेत्रों की हँसी खुशी प्राप्त करते रहना सर्व विदित बुद्धिमत्ता मानी जाती जरूर है, पर वास्तविकता वैसी है नहीं। इन सुविधाओं को तो कृमि कीट भी जुटा लेते हैं—कीड़े-मकोड़े भी पेट पालते और बच्चे जनते हैं—यह दो कार्य ही मनुष्य जैसे विशिष्ट प्राणी के हिस्से में आये, वह इन्हीं दो आकर्षणों में बँधा विचरता रहा तो उसकी क्या विशेषता रही? बुद्धिमत्ता ने उसे विशिष्टता क्या प्रदान की?

भौतिक सुख ही पाना है तो वह कम से कम कुछ तो टिकाऊ होना ही चाहिए, जो आने के साथ ही विदा हो जाय-क्षण भर भी न रुके-और जिसका परिणाम पश्चाताप एवं प्रताड़ना के रूप में मिले, भला वह भी कोई सुख है। जीभ का चटोरापन कल्पना में तो बड़ा आकर्षक लगता है। स्वादिष्ट पदार्थों को जब तक खाया नहीं है तब तक वे बड़े आकर्षक लगते और मन को ललचाते हैं पर जब

खाने बैठते हैं तो पाँच मिनट भी नहीं बीतते कि पेट भर जाता है और उन आकर्षक पदार्थों का एक ग्रास भी पेट में ठूँसना कठिन हो जाता है और वे बुरे, अनाकर्षक लगने लगते हैं। जो सुख पाँच मिनट भी स्थिर न रह सके पेट को अनावश्यक रूप में भरने और पीछे अस्वस्थता में फँसने की भूमिका बनाये, भला वह भी कोई महत्वपूर्ण सुख है। ऐसी जीभ लोलुपता के लिये-अति आकर्षित रहने, व्यंजनों के लिये बहुत समय और धन कमाने तथा नीति अनीति का ध्यान रखे बिना साधन जुटाने के लिए यदि हमारी प्रवृत्ति होती है। तो उसे समझदारी कैसे कहें? रूखा-सूखा खाकर—स्वास्थ्य सँभाले रहने वाली सस्ती खाद्य सामग्री पर सन्तोष करके, स्वल्प श्रम और स्वल्प समय में काम चलाऊ व्यवस्था जुटाई जा सकती है। ऐसा सन्तोष कर लेना और इस जंजाल से बचाई हुई शक्ति को महत्वपूर्ण कार्यों में लगाना दूरदर्शिता ही मानना चाहिए—ना समझी नहीं। होटलों के रहने, व्यंजनों के व्यय और स्त्रियों का सारे दिन चौके-चूल्हे का जाल जंजाल बुनते रहना, समय व शक्ति का सदुपयोग कहाँ हुआ? क्षणिक लिप्सा हमारी महत्वपूर्ण क्षमताओं का अपव्यय और दुरुपयोग करे यह मानवीय बुद्धिमत्ता की एक दुर्भाग्य विडम्बना ही कही जायेगी?

पेट के बाद प्रजनन आता है। यद्यपि वह जीभ से अधिक आकर्षक लगता है, पर है उससे गये-गुजरे दर्ज का। जीभ कम से कम शरीर चलाने के लिये कुछ रस रक्त का साधन तो जुटाती है और आहार के बाद कुछ बल एवं उत्साह दे देती है पर काम कौतुक में तो वैसा भी कुछ नहीं है। कुछ क्षण एक उन्माद सा आता है और नशा उतरने पर थके, टूटे शराबी की तरह शरीर अशक्त लुञ्ज-पुञ्ज, गिरा-मरा, निर्जीव, निष्प्राण सा बन जाता है। यह जंजाल हर बार शरीर और प्राण के भण्डार को बुरी तरह घटाता और तोड़ता चलता है। जिस शक्ति के ऊपर चेहरे का तेज, वाणी का प्रभाव, मस्तिष्क की प्रखरता, आत्मबल की ज्योति, शरीर की परिपुष्टता आदि विभूतियाँ

अवलम्बित हैं उसे गन्दी नाली में निचोड़ते रहने और खोखलेपन का भार पल्ले बाँधते चलना समझदारी का आधार नहीं है।

सन्तान पल्ले बँध जाती है तो उसे निबाहना और सँभालना ही पड़ता है। प्रकृति ने मन में एक आकर्षण जोड़ दिया है सो संतान पालन जैसे व्यय साध्य और कष्ट साध्य काम को करने के लिए भी प्राणी करता ही रहता है। पर विवेकपूर्ण देखा जाय तो लगेगा कि इतनी शक्ति जितनी सन्तान पैदा करने, पालने और दुःखद परिणाम भोगने में होती है, उतनी बचाकर यदि कोई आत्म-कल्याण एवं परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित कर सकता हो तो महामानव एवं नर-नारायण बन सकता है। किसी जमाने में बच्चे पैदा करना सूखी जमीन को सरसब्ज बनाने के लिए आवश्यक रहा होगा। आज तो हर नया बालक धरती पर अभिशाप और जन-समाज के लिये विपत्ति बनकर ही जन्मता है। उपभोग की साधन सामग्री बढ़ नहीं रही है, धरती ने अधिक अन्न उगाने की शक्ति से इनकार कर दिया है— ऐसी दशा में भी बच्चों के भार को बढ़ाते चलना-भूखे मरने-परस्पर लड़ कटकर नष्ट हो जाने अथवा वृष्टि अनावृष्टि, महामारी आदि दैवी विपत्तियाँ आमन्त्रित करना ही कहा जायेगा। आज की परिस्थितियाँ कहती हैं कि कम से कम २० वर्ष तो बच्चे पैदा करना एक दम बन्द कर दिया जाय और पीछे परिस्थितियों के अनुरूप एक ही बच्चे की बात वे लोग सोचें जिनके पास उन्हें सुसंस्कृत, सुविकसित एवं परिपुष्ट बनाने के समुचित साधन विद्यमान हों। साधनों के अभाव में पैदा किये हुए बच्चे रुग्ण, मूर्ख, दुर्गुणी एवं धरती के भार ही बन सकते हैं, ऐसा प्रजनन समस्त समाज के लिए अभिशाप बनता है और उन काम-क्रीड़ा में प्रवृत्त दुर्बुद्धि माता-पिता पर लानत की वर्षा करता है।

यौन आकर्षण वस्तुतः एक जुगुप्सा मात्र है, जिसे छिपाव,दुराव और रङ्ग-बिरंगी लीपा पोती ने तिल का ताड़ और मनोवैज्ञानिक जंजाल बनाकर खड़ा कर दिया है। समस्त जीव-जन्तु

नंगे फिरते हैं और उन पर कोई धर्म बन्धन भी नहीं है फिर भी प्रकृति प्रेरणा उनकी इतनी न्यून होती है कि मादा की आवश्यकता पर ही नर को कुछ उत्साह आता है। वन्य प्रदेशों के प्रकृति पुत्र भले ही असभ्य कहे जायें पर वे बिना अनावश्यक यौन आकर्षण प्रदीप्त किये— सामान्य सहचरों जैसा जीवन जीते हैं। नर-नारी का जो खिंचाव तथा कथित सभ्य समाज में पाया जाता है वह सर्वथा कृत्रिम एवं अनांछनीय है। सङ्गीत, चित्र, कविता, साहित्य की विकृत कलाकृतियों ने व्यर्थ ही मनुष्य में कृत्रिम जुगुप्सा जगाई है, उसे व्यर्थ के जाल-जंजालों में भटकाया है।

किसी महत्वपूर्ण प्रयोजन के लिए विवाह भी आवश्यक हो सकता है पर हर कोई इस महान् उत्तरदायित्व के सँभालने की क्षमता न होने पर भी ललचाये यह बुरी बात है। कोई सुयोग्य व्यक्ति समाज को परिष्कृत पीढ़ी देने के लिए अपने को समर्थ मानते हों, सन्तान पैदा करें पर हर कोई दीन दुर्बल अपनी मूर्खता का दण्ड समस्त समाज को, अबोध बच्चों को, असमर्थ नारी को भुगतने के लिये उतारू हो जाय तो उसे एक घिनौनी दुष्टता ही कहा जायेगा। समय आ गया कि हम विवेक को जागृत करें और मूढ़ता के प्रवाह में बहते हुए चले जाने की अपेक्षा हर बात परगुण-अवगुण और उचित अनुचित की दृष्टि से विचार करें। समय आ गया कि हम परम्पराओं के स्थान पर विवेक एवं दूरदर्शिता का सहारा लें और उतना साहस जगायें जिसके आधार पर अवांछनीय के लिए इन्कार किया जा सके और जो उचित हो उसे ही अपनाने का पराक्रम दिखाया जा सके।

प्रजनन का पाशविक आकर्षण हो सकता है पर विवेक के द्वारा उसका समाधान किया जाना चाहिए। उसकी क्षतियों पर विचार किया जाना चाहिए और यह देखा जाना चाहिए कि दो-पाँच मिनट के उन्माद के वशीभूत होकर हम कितने जाल-जंजाल अपने लिए तैयार कर रहे हैं और उस बीज से उत्पन्न होने वाली शाखा-प्रशाखाओं

एवं समस्या उलझनों का विस्तार कितना बड़ा है। साथी, सहचर, धर्मपत्नी, धर्मपति, अर्धाङ्गिनी, जीवनसङ्गी की बात सोचना इस पाप-पाखण्ड और स्वार्थ संकीर्णता के जमाने में व्यर्थ है। काम लिप्सा की पिशाचनी ही सर्वत्र नङ्गा नाच कर रही है। एक दूसरे से लाभ उठाने की होड़ दाम्पत्य जीवन में इतनी निकृष्ट स्तर पर चली जाती है कि चारों ओर फैले हुए पग-पग पर देखे जाने वाले उदाहरणों को देखकर यही जँचता है कि प्रजनन के प्रलोभन को मछली के काँटों की तरह यों ही नहीं निगल जाना चाहिए वरन् कुछ आगा-पीछा भी सोचना चाहिए।

प्रलोभनों में वासनाओं और तृष्णाओं के जंजाल भी कम विकट नहीं हैं। मिथ्या अहंकार प्रदर्शित कर एक दूसरे पर रौब जमाने की प्रवृत्ति कितनी विडम्बना भरी, कितनी कृत्रिम, कितनी उपहास्यास्पद और कितनी खर्चीली है उसे देखते हुए आश्चर्य होता है कि आखिर लोगों ने उसे किसलिये अपना लिया?

फैशन, पोशाक, सजावट शृंगार के खर्चीले उपकरण लोग इसलिए जुटाते हैं कि लोम उन्हें अमीर मानें। समझा जाता है कि अमीरी में ही सम्मान है। सम्मान की भूख बुझाने के लिए लोग अपने साधनों का प्रदर्शन करते हैं। यह कितनी बचकानी और ओछी समझ है। सम्मान सद्गुणों और अनुकरणीय सत्कर्मों का होता है। नाटकीय शृङ्गार से सजे हुए बहरुपिये अपने मन को धोखा भले ही दे लें। हर समझदार आदमी उनके औछेपन पर व्यङ्ग ही करेगा और उपहास की दृष्टि से ही देखेगा। नामवरी के लिए गुण्डागर्दी की, फिजूलखर्ची की, अमीरी का ढोंग बनाने की बात जिन्हें सूझती है वे समझदारों की—समझदारी की दुनिया से बहुत दूर हैं यही कहना चाहिए। कोई नासमझ ही उनके झाँसे पट्टी से प्रभावित हो सकता है, जिसमें असलियत समझने की क्षमता है उसे इस प्रकार की विडम्बना बनाने वाले का घटिया स्तर समझने में देर न लगेगी।

स्मरण रखा जाना चाहिए अगले ही दिनों अमीरी किसी की प्रशंसा का कारण नहीं रहेगी वरन् जो जितना मालदार होगा उसे उतना ही घृणित, निष्ठुर एवं दुष्ट माना जायेगा। विवेक पूछेगा जब उसके पास इतना उपार्जन था तो समाज के पिछड़ेपन को दूर करने में उसे खर्च क्यों न कर सका? प्यासी मानवता की आवश्यकतायें इसकी आँख से ओझल कैसे रहीं? अभाव और आवश्यकता से विकल समाज का सदस्य रहते हुए भी एकाकी गुलछर्रे उड़ाने की बात इसके गले कैसे उतरी? यह प्रश्न दिन-दिन उभरते चले जायेंगे और कुछ ही दिनों में लोग अमीरी को उतनी ही घृणित समझेंगे जितनी डकैती को। इसलिए बड़प्पन के लिए अमीरी बढ़ाने या उसका आडम्बर बनाने की बात समय से पहले ही दिमाग में से निकाल देनी चाहिए। यह नशा सम्मान का नहीं अपमान का कारण बनता जा रहा है।

क्या करें, क्या न करें? इस प्रश्न पर हमें हजार बार सोचना चाहिए। हमारी जीवन की दिशा और कार्य पद्धति क्या हो, इस लक्ष्य पर लाख बार विचार करना चाहिए। यह प्रश्न व्यर्थ के नहीं हैं। इन्हें गौण नहीं माना जाना चाहिए। वरन् बुद्धिमत्ता की सर्वोपरि चुनौती के रूप में उन समस्याओं का हल और समाधान खोजना चाहिए। बार-बार कसौटी लगाकर जाँचना चाहिए कि क्या हमारी आकांक्षायें, अभिरुचियाँ, प्रवृत्तियाँ और गतिविधियाँ खरी हैं या नहीं? यदि वे खोटी हैं तो इतना साहस इकट्ठा करना चाहिए कि उन्हें बदलें। यदि वे अनुपयुक्त हैं तो इतना पराक्रम सजग करना ही चाहिए कि प्रवाह में बहते जाने की व्यर्थता के विरुद्ध पैर जमा कर खड़े हो सकें।

मानवीय बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता की पुकार है कि नर तन की महानता और जिम्मेदारी को समझा जाय। इस अनुपम सौभाग्य और सुअवसर के साथ मखौल, दिल्लगीबाजी न की जाय वरन् उसका समुचित लाभ उठाया जाय। भगवान् ने हमें जो दिया है उस पर सन्तोष करें, असन्तोष की आग भड़का कर अकारण दिन-रात अपने जलने की चिता न सजायें। जो मिला है उस पर मोद मनायें

और उसके सदुपयोग की बात सोचें। सृष्टि के समस्त प्राणियों की तुलना में हमारी उपलब्धियाँ सहस्रों गुनी अधिक है। भूलना न चाहिए कि इस धरोहर के पीछे एक अत्यन्त महान् जिम्मेदारी छिपी हुई है। मनुष्य भगवान् के सहयोगी के रूप में पैदा किया गया है और उसे इतने बड़े अनुदान इसलिए दिये गये हैं कि सृष्टि को अधिक सुखी, अधिक सुन्दर और अधिक समुन्नत बनाने में अधिकाधिक हाथ बटायें—अधिकाधिक योगदान करें। भगवान् की पूजा उपासना के समस्त कर्मकाण्ड इसी उद्देश्य के लिए विनिर्मित हुए हैं कि मनुष्य की प्रसुप्त अन्तः चेतना अपने स्वरूप लक्ष्य एवं कर्त्तव्य को समझकर ईश्वरीय इच्छा की अनुगामिनी बन सके। यही तत्त्वज्ञान ईश्वरीय प्रसन्नता का आधार है और इसी स्तर की गतिविधियाँ अपनाने से जीवन लक्ष्य की पूर्ति सम्भव हो सकती है।

आज की विश्वव्यापी अव्यवस्था और दुष्प्रवृत्तियों की व्यापकता हमें पुकारती और झकझोरती है कि प्रसुप्त न पड़े रहें, मूर्छित न रहें। बाल-क्रीड़ा में न उलझें। जब कि आपत्ति काल सामने मुँह बाए खड़ा है और मानव सभ्यता सर्वनाश के कगार तक जा पहुँची है, तब तो हमें सजग होना ही चाहिए और अपनी आत्मिक जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए कुछ ऐसा करना ही चाहिए जो मानवीय चेतना के उपयुक्त एवं अनुरूप है। युग परिवर्तन की महान् सन्ध्या बेला में यदि हम उपेक्षा और तटस्थता ही अपनाये रहें तो युग धर्म की दृष्टि से हम से प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए ऐसा अक्षम्य अपराध बन जायेगा जिसका समाधान करोड़ों जन्मों तक प्रायश्चित की आग में जलते रहने पर भी पूरा न हो सकेगा। अबोध को क्षमा मिल सकती है। पर जो जानकर भी अनजान रहने का बहाना बनाये, जो स्थिति की विषमता समझते हुए भी उपेक्षा करते, जो आत्मा की पुकार को भीरुता के मूसल से कुचलता रहे ऐसा आत्म-हत्यारा अनन्त काल तक आत्म-ग्लानि के रौरव नरक में जलते रहने का ही अधिकारी बनेगा।

हम पेट और प्रजनन की लिप्सा-लोलुपता को निरस्त करें। तृष्णा वासना के जाल-जंजालों में ही उलझने, बँधने में अपना सर्वनाश न सँजोते रहें। वरन् साहस करके अपनी विचारणा और गतिविधि बदलें। शरीर के उत्तरदायित्वों को निबाहें पर आत्मा की पूर्णतया उपेक्षा न करें।

अपना विवेक जगना ही चाहिए और वह साहस उत्पन्न होना ही चाहिए जो निकृष्ट स्तर का जीवनयापन असम्भव कर दे और महानता का अवलम्बन करने के लिए इतना अदम्य उत्साह पैदा करे जो हर प्रलोभन और अवरोध को कुचलता हुआ जीवन लक्ष्य की पूर्ति में प्रवृत्त कर सके, उसी परिवर्तन में हमारा, हमारे समाज और युग का हित एवं कल्याण सन्निहित है।

मरण सृजन का अभिनव पर्व

मृत्यु हमारा सबसे अधिक प्रिय पात्र और शुभ चिन्तक अतिथि है। उसके आगमन पर डरने घबराने जैसी कोई बात है नहीं। शरीर जब आयु की अधिकता से जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, अवयव अपना कर्त्तव्य निबाहने में असमर्थ बन जाते हैं, मरम्मत की चिन्दियाँ भी जब काम नहीं करतीं तब नया यन्त्र लगाने की जरूरत पड़ती है। इसी परिवर्तन का नाम मृत्यु है।

कारखानेदार पुरानी मशीनें हटाते हैं, पुरानी मोटरें बेचते रहते हैं और उनके स्थान पर नई मोटर लगाते हैं। इससे कुछ असुविधा नहीं होती, सुविधा ही बढ़ती है। पुरानी मशीन आये दिन गड़बड़ी फैलाती थी, पुरानी मोटर धीमे-धीमे और रुक-रुक कर चलती थी। नई लग जाने से वह पुरानी अड़चनें दूर हो गईं। नई के द्वारा बढ़िया काम होने लगा। जीर्णता के साथ कुरूपता बढ़ती है और नवीनता में सौन्दर्य रहता है। पुराने पत्ते रूखे शुष्क और कठोर हो जाते हैं जब कि नई कोपलें कोमल और सुन्दर लगती हैं। पुराने पत्ते झड़ने पर, पुरानी मशीन

उखड़ने पर—पुरानी मोटर बिकने पर कोई इसलिये रंज नहीं मनाता कि अगले ही दिन नवीन की स्थापना सुनिश्चित है।

आत्मा अनादि और अनन्त है। वह, ईश्वर जितना ही पुरातन है और कभी नष्ट न होने वाला सनातन है। उसकी मृत्यु सम्भव नहीं। शरीर का परिवर्तन स्वाभाविक ही नहीं, आवश्यक भी है। हर पदार्थ का एक क्रम है जन्मना—बढ़ना और नष्ट होना। नष्ट होना एक स्वरूप का दूसरे स्वरूप में बदलन भर है। यदि यह परिवर्तन रुक जाय तो मरण तो बन्द हो सकता है जन्म की भी फिर कोई सम्भावना न रहेगी। यदि जन्म का उल्लास मनाने की उत्कण्ठा है तो मरण का वियोग भी सहना ही होगा। वधू अपने माँ-बाप से बिछुड़ कर सास श्वसुर पाती है, सहेलियों को छोड़कर पति को सहचर बनाती है। यदि मैका छोड़ने की इच्छा ही न हो तो फिर ससुराल की नवीनता कैसे मिलेगी?

पीतल के पुराने बर्तन टूट जाते हैं तब उस धातु को भट्टी में गला कर नया बर्तन ढाल देते हैं। वह सुन्दर भी लगता है सुदृढ़ भी होता है। पुराने टूटे, चूते-रिस्ते, छेद, गड्ढे और दरारों वाले शरीर बर्तन को चिता की भट्ठी में गलाया जाना तो हमें दीखता है पर उसकी ढलाई की फैक्टरी कुछ दूर होने से दीख नहीं पड़ती है। सोचते हैं पुराना बर्तन चला गया। खोज करने से विदित हो जायेगा कि वह गया कहीं भी नहीं—जहाँ का तहाँ है सिर्फ शकल बदली है।

पुराने मकान टूट फूट जाते हैं उन्हें गिरा कर नया बनाना सुरक्षा और सुविधा की दृष्टि से आवश्यक है। नया बनाने के लिए जब पुराना गिराया जा रहा होता है तो कोई रोता कलपता नहीं। शरीर के मरने पर फिर दुःखी होने का क्या कारण है?

बहुत दिन साथ रहने पर बिछुड़ने का कष्ट उन्हें होता है जिनकी ममता छोटी है। कुछ ही चीजें जिन्हें अपनी लगती हैं—कुछ ही व्यक्ति जिन्हें अपने लगते हैं वे प्रियजनों के बिछोह की बात सोचकर अपनी संकीर्णता का ही रोना रोते हैं। वस्तुतः कोई किसी से

कभी बिछुड़ने वाला नहीं है, समुद्र में उठने वाली लहरें जन्मती और मरती भर दीखती हैं पर यथार्थ में समुद्र जहाँ का तहाँ है। कोई लहर कहीं जाती नहीं—सागर का समग्र जहाँ का तहाँ परिपूर्ण रहता है। कुछ समय के लिये बादल बन कर उड़ भी जाय तो नदियों के माध्यम से फिर अगले क्षण उसी महाजलाशय में आकर कल्लोल करता है। मरने के बाद भी कोई किसी से नहीं बिछुड़ता। सूर्य की किरणों की तरह हम सब एक ही केन्द्र में बँधे हुए हैं। कुछेक प्राणी ही हमारे हैं अन्य सब बिराने हैं इस सीमा बद्धता से ही हमें शोक होता है।

मृत्यु का अर्थ है कुरूपता का सौन्दर्य में परिवर्तन। अनुपयोगिता के स्थान पर उपयोगिता का आरोपण। इससे डरने का न कोई कारण है और न रुदन करने का।

मृत्यु का सदा स्मरण रखें ताकि उससे डरना न पड़े

मृत्यु के विषय में निश्चित सभी होते हैं किन्तु निश्चिन्त कदाचित कोई-कोई ही होते हैं। वैसे मृत्यु की चिन्ता सभी को होती है।

मृत्यु की चिन्ता न करने वालों में वे ही बोधवान सत्पुरुष होते हैं जो उसके सम्मुख उपस्थित होने की तैयारी करते रहते हैं। इस अनायास आने वाली घटना का स्मरण रखने वाले व्यक्ति अपने जीवन का एक क्षण भी बरबाद नहीं करते। अपने जीवन के प्रत्येक कर्त्तव्य को तत्परता से पूरा करने में लगे हुए, इस बात का प्रयत्न किया करते हैं कि वे मृत्यु आने से पूर्व ही अपने सारे कर्त्तव्यों को पूरा कर डालें, जिससे कि उस समय किसी कर्त्तव्य का उत्तरदायित्व अपूर्ति की दशा में दबाव न डाल सके।

जिस प्रकार कर्त्तव्य परायण व्यक्ति जीवन में असत्कर्मों से बचा रहता है, उसी प्रकार कर्त्तव्यहीन व्यक्ति अकर्मों में ही लगा रहता है। असत्कर्मों द्वारा पाप का संचय करते रहने वाले व्यक्ति का

मृत्यु से भयभीत होना स्वाभाविक ही है। वह जानता है कि जिस समय मृत्यु आकर उपस्थित होगी उस समय जीवन भर किये पापों के चित्र सामने आ जायेंगे जिससे पश्चाताप की भयानक अग्नि में जलना होगा। एक असहनीय यन्त्रणा के बीच शरीर का अन्त होगा। तब ऐसा कोई अवकाश शेष न रह जायेगा जिसमें उन असत्कर्मों का ताप सत्कर्मों से कम किया जा सके। यन्त्रणा के बीच गर्हित अन्त होने से शरीरोपरान्त प्राप्त होने वाली गति भी गर्हित होगी, जिसे पता नहीं कितने युगों तक भोगना पड़े। इस भयानक सम्भावना से अकर्त्तव्यवान का भयभीत होना स्वाभाविक ही है।

मनुष्य जीवन का एक एक क्षण अमूल्य है। यह धर्म, अर्थ, काम-मोक्ष आदि पुरुषार्थों को प्राप्त कर लेने का सुअवसर है। केवल मनुष्य शरीर ही ऐसा साधन है जिससे भगवत्-प्राप्ति का उपाय किया जा सकता है। अन्य सारी योनियाँ भोग योनियाँ हैं। उनमें भगवत्-प्राप्ति का उपाय नहीं किया जा सकता। इसको प्रमादवश नाना प्रकार के नरकदायक भोगों में नष्ट कर देना बहुत बड़ी हानि है।

जीवनकाल में जिन कार्यों, संस्कारों तथा प्रवृत्तियों को अभ्यास द्वारा प्रमुख बनाया जाता है वही मृत्यु के समय चलचित्र की तरह मनुष्य के सम्मुख चक्कर लगाया करते हैं। उस समय मनुष्य उस स्मरण की भीड़भाड़ में अपने सत्कर्मों को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया करता है। यदि उसने सुकृत्य किये रहे होते हैं तो वे उसके स्मृति-पटल पर आकर मित्र की तरह उसे सहारा दिया करते हैं। जिससे अनन्तपथ के यात्री को बड़ी सान्त्वना मिलती है और वह सुख-शान्ति पूर्वक शरीर त्याग कर सदाचार के अनुसार सुन्दर लोक की प्राप्ति करता है।

इसके विपरीत जीवन के खाते में जिसने सत्कर्मों का संचय किया ही नहीं बड़े चाव से असत्कर्मों में ही लगा रहा है, खोजने पर उस असहाय काल में उसे कोई सहारा किस प्रकार मिल सकता है? उसे अपने चारों ओर अपने असत् कर्म ही प्रेत-पिशाचों

की तरह विकराल रूप रखकर नाचते और अट्टहास करते हुए दिखाई देंगे। उसे ऐसा लगेगा मानो उसके असत्कर्म उस पर व्यंग करते हुए कह रहे हैं—ऐ! मूर्ख मनुष्य तूने हमको सुखदायी समझकर जो जीवन भर पाला है अपनी उस मूर्खता का परिणाम देख ले और युग-युगान्तरों के लिये जाकर नरक की यातना भोग।" निःसन्देह असत् कर्मों के लिए वह याम कितना भयानक रहा होता है। इसी लिये सावधान पुरुष अपने जीवन के खाते में सत्कर्मों का ही संचय करने का प्रयास किया करते हैं जिससे अन्तिमकाल में उन्हें भय-यातना से मुक्ति मिली रहे।

मृत्यु के भय से बचने का एक सीधा सरल-सा उपाय है, सत्कर्मों का संचय करना। शास्त्रोक्त एवं लोकोक्त अपने निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन करना ही सुकृत्य माने गये हैं। इनका ज्ञान मनुष्य को सहज ही हो जाता है। किसी को दुःख न देकर यथा सम्भव सुख देना संसार के सभी सत्कर्मों का मूलाधार है। इस अभ्यास को करते रहने से जीवन के खाते में सत्कर्मों की पूँजी इकट्ठी होती रहती है जो कि उस कठिनकाल में एक विशाल सम्बल बनकर मनुष्य का निस्तार किया करती हैं।

सामान्यतः सुख समझकर जो अबोध व्यक्ति भोगपरायण बने रहते हैं वे बड़ी भूल करते हैं। मनुष्य जीवन की विशेषता है भगवच्चिन्तन परायण रहना। भोगों के चिन्तन अथवा उनको प्राप्त करने के उपायों में लगा हुआ मनुष्य अपनी वृत्तियों को दूषित कर देता है, संस्कार बिगाड़ लेता है जिससे उसका चित्त सत्कर्मों की ओर उन्मुख नहीं होता। जो व्यक्ति भगवच्चिन्तन अथवा सत्कर्मपरायण न रहकर भोगों में ही निरत रहता है वह शरीर से मनुष्य होता हुआ भी गुण, कर्म स्वभाव से पशु ही होता है। मनुष्य की भोगपरक पशु प्रवृत्तियाँ उसके पतन एवं विनाश का कारण बनती हैं। भोग प्रवृत्तियों के पोषण से मनुष्य मृत्यु के उपरान्त निकृष्ट योनियों में भ्रमण करता हुआ नारकीय यातना पाया करता है। जिस पुण्य पूँजी से वह मनुष्य

शरीर का अधिकारी बना होता है वह नष्ट हो जाती हैं। फलतः वह निकृष्ट गतियों में जा गिरता है।

मनुष्येतर योनियों के जीव कर्म के अधिकारी नहीं होते। उन्हें हठात् उन योनियों का भोग करना पड़ता है। कर्म का अधिकारी न होने से उसे किसी प्रकार का कर्मदोष लगने का प्रश्न ही नहीं उठता। अस्तु वह स्वभावतः एक योनि में जाता हुआ चौरासी लाख चक्करों को पार करता हुआ अन्त में मनुष्य योनि के उस अन्तिम अवसर में आ जाता है जिसमें वह कर्मों का अधिकारी होकर अपनी मुक्ति का प्रयास कर सकता है। इसी सुविधा के कारण वह अन्य पशु पक्षियों की तरह कर्मफल से मुक्त नहीं होता। अब यह मनुष्य के अपने हाथ की बात है कि वह सुकर्मों द्वारा अपनी मुक्ति का प्रयत्न करे अथवा कुकर्मों में पड़कर पुनः चौरासी लाख के चक्कर में लौट जाये इस प्रकार मानवेतर योनियों का भ्रमण जीव की प्रगति का सूचक है जिसकी कि पराकाष्ठा मानव-योनि की प्राप्ति है। जब कि मानव की मृत्यु उसकी मुक्ति अथवा अधम योनियों में पुर्नपतन का हेतु होती है तो मनुष्य योनि में आकर जीव या तो अपने सत्कर्मों द्वारा भगवान को प्राप्त कर मुक्त हो सकेगा अथवा असत् कर्मों द्वारा गिरकर फिर अधोगति में चला जायेगा। इस प्रकार मनुष्येत्तर प्राणियों की मृत्यु साधारण प्रगति मात्र होती है और मनुष्य की मृत्यु या तो उसके चरमोत्थान का हेतु बनेगी अथवा परमात्मा की।

मृत्यु से डरना एक लज्जाजनक कायरता है। इस कायरता का समावेश होता उन्हीं में है जो इस दुर्लभ मानव-जीवन का सदुपयोग नहीं करते, इसे अकर्तव्य कर्मों तथा भोग-लिप्सा में नष्ट किया करते हैं। जो बोधवान व्यक्ति मानव-जीवन की दुर्लभता तथा उसके मूल्य महत्व को समझते हुये सत्कर्मों में इसका सदुपयोग किया करते हैं उन्हें मृत्यु का स्मरण आनन्ददायक होता है। उन्हें अपने सत्कर्मों के बल पर यह विश्वास रहा करता है कि जिस पुण्य-पूँजी को उन्होंने संचित किया है वह भवसागर की उतराई के

लिये पर्याप्त है। अपने पुण्यों के बल पर वे इस भवसिन्धु को पार कर अपने अन्तिम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति कर लेंगे और यदि इस पुण्य-पूँजी में कुछ कमी रह गई है तो पुराना वस्त्र छोड़कर नये वस्त्र धारण करने के समान पुनः नया जीवन नया शरीर धारण करेंगे और आज से अधिक उन्नत एवं परिष्कृत। अपने अगले शरीर के अवसर पर वे और अधिक साधना करके अपने लक्ष्य को अवश्य पा लेंगे। इस प्रकार पुण्यात्मा पुरुष को मृत्यु की कल्पना से भय तो क्या एक आनन्द पुलक की ही प्राप्ति होती है।

मृत्यु अवश्यम्भावी है। सत्कर्मों का सहारा लेकर ही इसके त्रास से बचा जा सकता है। यह क्षणभंगुर मानव-जीवन प्रतिपल मृत्यु के प्रवाह में बहता चला जा रहा है। मनुष्य जिस क्षण से जन्म लेता है उसी क्षण से मृत्यु की ओर बढ़ने लगता है। जीवन की बढ़ोतरी तथा आयु की वृद्धि मृत्यु की निकटता ही है। पता नहीं किस समय वह अवश्यम्भावी अन्तिम घड़ी आ जाये। इसलिये मनुष्य को प्रतिक्षण सावधान रहकर अपने जीवन का अणुक्षण सत्कर्मों में ही लगाते रहना चाहिए।

प्रथम तो मृत्यु का भय एक अनुचित त्रास है। तब भी यदि उसका भय सताता ही है तो बुद्धिमत्तापूर्वक उसका लाभ भी उठाया जा सकता है। जैसे अपने अधिकारी से डरने वाला व्यक्ति अपने को अधिक से अधिक अनुशासित आज्ञापालक तथा कार्यदक्ष बनाने का प्रयत्न किया करता है उसी प्रकार मृत्यु से भयभीत व्यक्ति यदि चाहे तो भय के कारण भूत दुष्कर्मों को छोड़कर सत्कर्मों में संलग्न हो सकता है। लोग मृत्यु से डरते तो हैं लेकिन सच पूछा जाए तो वे सच्चाई के साथ उससे नहीं डरते। यदि उनके हृदय में मृत्यु के प्रति सच्चा भय रहे तो निश्चय ही पाप कर्मों की ओर से विमुख होकर पुण्य कर्मों की ओर अग्रसर हो उठे।

जिसे लोग प्रायः मृत्यु का भय कहते हैं वह वास्तव में भोगों के छूट जाने की चिन्ता ही होती है, दुनिया छूट जाने का मोह

ही होता है, लोग वास्तव में यह सोचकर दुःखी होते हैं कि जब हम मर जायेंगे तो हमारी यह पत्नी यह बच्चे और यह धन दौलत सब छूट जायेगी और हम एकाकी न जाने कहाँ-कहाँ भटकते रहेंगे। यह सब हमारे प्रियजन तथा धन सम्पत्ति हमें फिर कहाँ मिलेगी? अच्छा होता मृत्यु न आती और हम सदा सर्वदा इनके सम्पर्क का सुख उठा सकते। इस प्रकार की मोह भावना ही बहुधा मृत्यु का भय बन कर सामने आया करती है। ऐसे व्यक्ति कम ही होते हैं जिन्हें मृत्यु का भय अपनी अज्ञातदशा की चिन्ता के कारण सताता हो।

निःसन्देह मृत्यु का मोह जन्य भय बड़ी ही निकृष्ट भावना है। यह अकारण ही आत्मा के बन्धन कड़े कर दिया करता है, संसार तो सभी को एक दिन छोड़ना पड़ता है। सम्पत्ति एवम् प्रियजन सबके ही छूटते हैं। इस भवितव्यता में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ सकता। इस अवश्यम्भाव्य के प्रति निरर्थक मोह करना सबसे बड़ी मूर्खता है।

जो व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम आदि की प्राप्ति के लिये पुण्यपूर्वक प्रयत्न किया करता है उसको इनसे निकृष्ट मोह भी नहीं होता है, वह इन सब की प्राप्ति भोग सुख के लिए नहीं केवल मानव कर्त्तव्य समझकर ही करता है। जिस प्रकार कर्त्तव्य पूरा हो जाने पर मनुष्य को कार्य के प्रति मोह न रहकर आत्म-सन्तोष होता है उसी प्रकार कर्त्तव्यपूर्वक लौकिक उपलब्धियों को पाकर मनुष्य को केवल कर्त्तव्यपालन का सुख ही रहता है। उनके प्रति मोह नहीं। जिस प्रकार वह उन्हें पुण्य पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करता है उसी प्रकार साहसपूर्वक छोड़ भी देता है।

मोहजन्य अथवा अकृतजन्य मृत्यु का भय निरर्थक निकृष्ट एवं निम्नप्रवाहक है। मनुष्य को इससे बचे रहने का प्रयत्न करना चाहिये और यदि वह आता ही है तो उसका लाभ उठाकर सत्कर्मों द्वारा मृत्यु से मोर्चा लेने की तैयारी कर लेनी चाहिए।

मृत्यु हमारे जीवन की अन्तिम अतिथि

मृत्यु और जीवन एक ही तथ्य के दो पहलू हैं। मृत्यु जीवन का उद्‌गम है तो जीवन का पर्यवसान भी मृत्यु की गोद में ही होता है। रात्रि के गर्भ से ही दिन का उदय होता है, जीवन भी मृत्यु की कोख से पैदा होता है। दिन का अन्त रात्रि में होता है उसी तरह जीवन का अन्त मृत्यु में। वस्तुतः मरण ही दूसरे अर्थों में जन्म है। पं० नेहरू ने कहा है—"मृत्यु से नया जीवन मिलता है केवल वहीं से जहाँ मनुष्य मृत्यु की गोद में सोता है पुनरुत्थान का शुभारम्भ होता है।"

पाश्चात्य-विचारक कोल्टन के शब्दों में "मृत्यु उन्हें मुक्त कर देती है जिन्हें स्वतन्त्रता भी मुक्त नहीं कर सकती। वह उनकी प्रभावशाली चिकित्सा है जिन्हें औषधियां ठीक नहीं कर सकतीं। यह उनके लिए आनन्द और शान्ति की विश्राम-स्थली है जिन्हें समय सान्त्वना नहीं दे पाता।"

दिन भर काम-काज करके हम थके-थकाये निद्रादेवी की गोद में सोते हैं और सुबह उठने पर नई ताजगी, स्फूर्ति, आशा, उत्साह से काम में जुट जाते हैं। मृत्यु भी ऐसी ही निद्रा है महानिद्रा जिसके अज्ञात किन्तु सुखकर अङ्क में हम जीवन भर की दौड़ धूप से क्लान्त, परेशान होकर थककर, शरीर से जीर्णशीर्ण होकर सोते हैं और फिर नव जन्म के द्वारा जाग पड़ते हैं, एक शिशु की किलकारियाँ भरते, उछलकूद करते, नया ताजा शरीर लेकर, नई चेतना नई स्फूर्ति लेकर।

बालक दिन भर अपने खिलौनों से अपने मित्रों में खेलता है। कई बार वह अपनी भूख प्यास आराम की बात भी भूल जाता है लेकिन उसकी हित चिन्तक माँ समय पर उसकी ओर ध्यान देती है उसके न चाहते हुए भी उसके खिलौने में साथियों में मन भटकते रहने पर भी मचलने, रोने-चीखने, चिल्लाने पर भी वह अपने प्यारे पुत्र को गोद में उठा लेती है। थपकियाँ देकर प्यार से सुला देती है और सोते में ही उसे आँचल का दूध पिलाकर पुष्ट कर देती है। आहा! प्रकृति

माता भी कितना ध्यान रखती है प्राणियों का। वह अपने मौत के प्यार भरे हाथों में उठा लेती है हमारे न चाहते हुए भी हमें अपनी अङ्क में सुला लेती है तब तक जब तक हमारी थकान मिटकर हम जाग नहीं पाते। जागने पर वह नहला-धुलाकर नये वस्त्र पहनाकर, नव शृंङ्गार करके फिर हमें जग के क्रीड़ाङ्गण में खेलने को भेज देती है जहाँ बहुत से साथी मिल जाते हैं खेलने के विविध वस्तु पदार्थ।

मृत्यु मानों छुट्टी मनाना है। लोग अपने काम से छुट्टी लेकर नदी, समुद्र में गोता लगाने, सैर सपाटे करने जाते हैं। मृत्यु के द्वारा भी हम अनन्त जीवन के समुद्र में गोते लगाने एक सुरम्य प्रदेश की यात्रा करने जाते हैं जिसकी कल्पना भी हम नहीं कर पाते। मरण एक महायात्रा है, महाप्रस्थान है, महानिद्रा है। जीवन और जगत् के कार्य व्यापार से विरत होकर एक लम्बी छुट्टी बिताना है।

गीताकार ने मृत्यु को वस्त्र बदलना बतलाया है। जिस तरह फटे जीर्ण शीर्ण वस्त्र को उतार कर हम नया वस्त्र धारण करते हैं उसी तरह मृत्यु भी जीर्ण जर्जर, असमर्थ अशक्त शरीर को छोड़कर पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करती है। प्रकृति माता मनुष्य को मृत्यु के रूप में बुलाती है, नये वस्त्र पहनाकर फिर भेज देती है।

छत पर पहुँचने के लिये सीढ़ियों पर होकर जाना पड़ता है। जीवन के परम लक्ष्य की पूर्णता प्राप्ति तक जाने के लिये भी हमें जन्म मरण के सोपानों पर से गुजरना पड़ता है। मरण मानों वर्तमान सीढ़ी से आगे की सीढ़ी पर पहुँचने के लिये पैर उठाना है, जन्म मानों सामने वाली सीढ़ी का आधार लेकर ऊपर पहुँचने की तैयारी करना है।

व्यापारी अपनी दुकान में तरह-तरह का सामान रखता है और बेचने खरीदने का क्रम रात दिन जारी रखता है लेकिन साल में एक बार कुछ समय के लिये वह खरीद-फरोख्त का काम बन्द करके अपने सामान का चिट्ठा बनाता है। क्या खरीदा क्या बेचा और कितना लाभ कमाया? ऐसा हिसाब प्रत्येक व्यापारी वर्ष में एक बार लगाता है। मृत्यु भी मानों जीवन के हिसाब किताब और लाभ पर

विचार करने का अवसर है कई वर्षों से चल रहे जीवन व्यापार का आखिर कभी तो हिसाब होना ही चाहिए और मृत्यु ही ऐसा अवसर है जब हम अपने लाभ हानि पर विचार करके फिर से दुकान लगाने एवं भूल सुधारने का कार्य सम्पन्न करते हैं।

मृत्यु मानों भगवान् का निमन्त्रण है। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा है—"मृत्यु तो प्रभु का आमन्त्रण है। जब वह आये तो उसका द्वार खोलकर स्वागत करो, चरणों में हृदय धन सौंप कर प्रभु का अभिवादन करो।" माता जब श्रावण में अपनी बेटी को उसकी ससुराल से बुलाती है तो बेटी के हृदय में कितनी प्रसन्नता उत्सुकता पैदा होती है। उसका हृदय भी माता के यहाँ जाने के लिए सावन के बादलों की तरह उमड़ने लगता है। पीहर जाकर वह स्वतन्त्रता के साथ आनन्द उल्लास का जीवन बिताती है। मृत्यु भी मानों महा-माता द्वारा अपने घर बुलाने के लिये निमन्त्रण होता है हमारे लिए।

मृत्यु जीवन का एक बहुत ही आवश्यक और अनिवार्य अङ्ग है। यदि मृत्यु न हो तो यह जीवन भार बन जाय। यह संसार काँटों की तरह चुभने लगे। हीन से हीन व्यक्ति में भी जीने की जो चाह है वह मृत्यु की कृपा से ही है। मृत्यु को हटा दीजिए जीवन से लोग ऊबने लगेंगे। यदि मृत्यु का अस्तित्व न रहे तो कल्पना कीजिए कि उन लोगों का क्या हो जो अनेकों कष्ट पा रहे होते हैं। रोग, शोक, अभाव, कठिनाइयों की असह्य मार से मृत्यु देवता ही तो बचाता है। जीर्ण, शीर्ण, परावलम्बी असमर्थ, वृद्ध शरीर से छुटकारा मरण देवता ही दिलाते हैं। शारीरिक असमर्थता के कारण परावलम्बी हो जाने वाले लोगों का मुक्तिदाता, असाध्य रोगों से ग्रस्त लोग जिनकी कोई चिकित्सा नहीं हो सकती, उनका धन्वन्तरि, परम दयालु मृत्यु देवी ही है। संसार जिन्हें ठुकरा देता है समय जिनके आनन्द खुशी को छीन लेता है उन्हें मौत ही अपने अङ्क में बिना किसी भेद भाव के स्थान देती है।

जीवन के कडुवे मीठे जीवन घूंट यदि आदमी एक लम्बे समय तक संजोये रखे तो वह उनके बोझ से दब जाय। अधिक नहीं

एक जीवन की घटनाओं, बातों, अनुभूतियों को याद रखा जाय तो उनके विशाल बोझ से मनुष्य परेशान हो उठे, जीवन असह्य हो जाय। लेकिन मृत्यु का विधान इन सबको भुलाने के लिए ही प्रकृति माता का एक वरदान मिला है। मौत के दरवाजे पर आकर हमें जीवन की समस्त अच्छी बुरी स्मृति, अनुभूतियाँ, घटनायें विस्मरण हो जाती हैं। उन्हें नये संसार की यात्रा पर जाने से पूर्व ही इसी दुनिया के साथ छुटा देती है, मृत्यु देवी। बहुत-सी ऐसी अच्छी बुरी घटनायें जिनकी याद मनुष्य भुला देना चाहता है लेकिन जीते जी वह स्वभाववश और दुनिया वालों के कारण उन्हें भुला नहीं पाता और उनकी उधेड़-बुन में परेशान रहता है, मृत्यु ही उसे सरलता से इनके जंजाल से छुटकारा दिला देती है।

मृत्यु से ही इस संसार में सौन्दर्य का आकर्षण बना हुआ है। इसी के कारण प्रेम है। यदि मृत्यु न होती, सब अमर होते तो एक दूसरे की तरफ स्नेह भरे हृदय से देखते भी नहीं। कठोरता, रूखापन, फैल जाता। कोई किसी को अपना नहीं कहता। बहुत बार बुराइयों से लोग इसलिए बचे रहते हैं कि उन्हें मृत्यु का, अपनी छोटी-सी जिन्दगी का ख्याल हो आता है और इस तरह संसार में अनेक बुराइयाँ पनप ही नहीं पातीं। यदि मनुष्य अमर हो जाय तो कुछ भी करने में नहीं चूके। यदि मनुष्य के पाँव कहीं रूकते हैं तो मौत के दरवाजे पर।

मृत्यु मनुष्य के लिए त्याग उत्सर्ग का पाठ सिखाती है। साथ ही अनासक्त होने का व्यावहारिक प्रयोग है यह। मनुष्य जीवन भर वस्तु व्यापार में लीन रहता है। इनका इस तरह संग्रह करता है मानो उसे सदा-सदा इसी धरती पर रहना है। नीति अनीति जैसे भी बने कमाने, संग्रह करने, सुख साधन जुटाने में ही हमारा जीवन लगा रहता है लेकिन मौत आती है और चुपके से हमें अपने अज्ञात हाथों में उठा लेती है। सब कुछ यहीं धरा रह जाता है। छोड़ देना पड़ता है। लेकिन मृत्यु कोई कठोरता-क्रूरता नहीं है जो बलपूर्वक मनुष्य को यह त्याग कराती है। वरन् यह तो मङ्गलकारिणी है जो अनेक

आसक्ति, मोह तृष्णा के दलदल में फँसे मनुष्य को निकाल कर उसे मुक्त करती है। जगत् के वस्तु पदार्थों के सङ्ग से लगे कल्मषों को मृत्यु माता ही अपने हाथों से धोती है उन्हें छुड़ा देती है ठीक उसी तरह जैसे कोई माँ अपने बच्चे के शरीर में लगी गन्दगी को साफ करती है।

हमारे यहाँ मृत्यु को विश्राम, निद्रामात्र समझा जाता है मृत्यु पर भी हमारे यहाँ जन्म की तरह खुशियाँ मनाने, जुलूस निकालने, कीर्तन गान करने आदि का विधान है। सोया हुआ बालक फिर उठकर अपने खिलौने से खेलने लगता है। मृत्यु के बाद फिर से हम नया जीवन शुरू करते हैं। पिछले जीवन में जहाँ अध्याय छोड़ा था उससे आगे नये अध्याय का प्रारम्भ फिर करते हैं। रात को अधबुनी चादर छोड़कर सो जाने वाला जुलाहा दूसरे दिन फिर वहीं से अपनी चादर बुनना शुरू करता है जहाँ उसने छोड़ी थी। पूर्व जन्म के ज्ञात संस्कार स्वभाव आदि की कमाई नये जन्म में फिर से मिल जाती है इस तरह मौत सबकी समाप्ति नहीं है अपितु शरीर रूपी साधन को दुरुस्त करके नये उत्साह, नई शक्ति से मंजिल की ओर गतिशील होने की—प्रक्रिया है मौत।

अमृत और उसकी प्राप्ति

मृत्यु इस संसार में किसी भी जीव को शायद जितना दुःख देती है उतना अन्य कोई वस्तु नहीं। धन और साधन सम्पन्न मनुष्य, नाग, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, भूत और बैताल तक मृत्यु की कल्पना से काँपते पाये जाते हैं। युग के युग बीते, असंख्यों व्यक्तियों ने असंख्यों तरीकों से अनुसन्धान किये पर इस समस्या का कोई समाधान न निकला। जन्म लेने वाले जीव को मृत्यु से कदापि न बचाया जा सका। आधुनिक विज्ञान का आविर्भाव भी इसी परिकल्पना पर आधारित है। विज्ञान के समुद्र मन्थन से अनेक प्रकार के तत्व, रत्न और विविध आश्चर्य आविष्कृत हुये किन्तु अमृतत्व की कहीं से भी उपलब्धि न हो सकी। मृत्यु से छुटकारा पाने का कोई स्थूल साधन

आज तक न ढूँढ़ा जा सका। इस दुःख से जीव को किसी भाँति उन्मुक्त न किया जा सका।

तो भी संसार के प्रत्येक धर्म ने एक ऐसे तत्व की बात स्वीकार की है जिसे पाकर मनुष्य अमृत-पद पा लेता है, उसे मृत्यु के भय से छुटकारा मिल जाता है। ऋषियों ने अमृत तत्व को एक दैवी पेय पदार्थ के रूप में माना है। पौराणिक कथा, कहानियों और उद्धरणों के अतिरिक्त वेद और उपनिषदों में भी कई स्थानों में 'अमृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऐसे सभी स्थल यह व्यक्त करते हैं कि अमृत कोई ऐसा तत्व है जिसके द्वारा मृत्यु से छुटकारा मिल सकता है। अमृत पान करने की वस्तु है या कोई आध्यात्मिक तत्व है तथा उसके पान करने से मृत्यु से छुटकारा मिल जाता है या नहीं—यह यहाँ विवेचना का विषय है।

पुराणों में एक कथा आती है—एक आर देवताओं तथा असुरों ने समुद्र का मन्थन किया। इस मन्थन से जो चौदह रत्न मिले अमृत भी उनमें एक था। बाद में देवताओं ने उसे पान किया और वे अमर हो गये।

समुद्र का मन्थन किया जाना और उससे कोई अमृत जैसा द्रव्य पेय प्राप्त किया जाना—यह बात कुछ अजीब-सी लगती है। इतने बड़े समुद्र को मथा जाना ही असम्भव लगता है फिर उससे जो चौदह रत्न प्राप्त हुए वह भी ऐसे हैं जिन पर कोई सहसा विश्वास नहीं होता। पर उक्त पौराणिक आख्यानों की गहराई में प्रवेश किया जाय तो मालूम पड़ता है कि इन कथानकों के द्वारा शास्त्रकारों ने सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्त्वों का अलंकारिक विश्लेषण किया है। अमृत को जिस रूप में पुराणों में वर्णित किया गया है वह उस तत्व का केवल कवित्वमय चित्रण है पर उसमें जो जीवन दर्शन सन्निहित है वह अवश्य ही बहुत महत्वपूर्ण है। इस अलंकारिक विवेचन की वास्तविकता को जानने के लिए उपनिषदों का अध्ययन आवश्यक है। अमृत की व्याख्या उपनिषदों में जिस रूप में की गई है भारतीय

संस्कृति का निरूपण उसी को आधार मान कर किया गया है।

अमृतत्व आध्यात्म-धर्म का प्रमुख आधार है और उसी की प्राप्ति को मनुष्य जीवन का लक्ष्य भी बताया गया है। किन्तु वह किसी तरल पेय पदार्थ के रूप में नहीं है वरन् विशुद्ध आध्यात्मिक तत्व के रूप में हुआ है जिसका अवगाहन कर मनुष्य का स्थूल शरीर भले ही अमर न होता हो किन्तु यह निश्चित है कि वह जिस उद्देश्य को लेकर धरातल में अवतरित होता है उसे अवश्य पूर्ण कर लेता है। इसे ही आत्म-कल्याण, स्वर्ग या मुक्ति की, परमानन्द की प्राप्ति कह सकते हैं। जिस तत्व को प्राप्त कर जीव शाश्वत सुख में लीन हो जाता है उसे ही अमृत तत्व के नाम से पुकारा जाता है।

वह तत्व क्या है—कठोपनिषद् (२/२/८) में इसकी व्याख्या की गई है। शास्त्र कार ने यम के मुख से नचिकेता के लिए जो उपदेश कराया है—उसमें कहा है—

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं, कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते॥

अर्थात्—यह परमात्मा ही प्रलय काल में भी जागृत रहता है। जीव के लिए कर्मानुसार भोग का निर्माण करने वाला भी वही है। वह शुक्र है, वह ब्रह्म है उसे ही अमृत के नाम से पुकारा जाता है।"

इस श्लोक से सिद्ध होता है कि परमात्मा ही वह अविनाशी तत्व है जिसे प्राप्त करने से मनुष्य जीवन का उद्देश्य पूरा किया जा सकता है।

मुण्डकोपनिषद् (२/२/२)में इसे और भी स्पष्ट करते हुये बताया है—

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च, यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्ध सोम्य विद्धि॥

अर्थात्—हे सौम्य! तू उस बेचने के योग्य लक्ष्य को बेध

प्राणियों का आश्रय है, वही अविनाशी ब्रह्म है, मन,वाणी, प्राण सत्य और अमरत्व से युक्त है।"

यहाँ परमात्मा के "अमृत-तत्व" होने की बात को पुष्ट करते हुए शास्त्रकार ने यह भी सिद्ध किया है कि वह प्राण है, सत्य है, मन और वाणी है। इन सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह मनुष्य के भौतिक स्वरूप को अमृत नहीं करता वरन् जीवात्मा की स्थिति को इतना ऊँचे उठा देता है कि जीव का हलकापन नष्ट हो जाता है और उसे अपने आनन्दमय, अविनाशी स्वरूप का बोध हो जाता है। उपरोक्त सूक्त में शास्त्रकार ने आदेश दिया है कि यदि तुम उस अमरत्व को प्राप्त करना चाहते हो तो हे सौम्य ! उस परमात्मा की शरणागति प्राप्त करो।

ब्रह्मामृत की उपलब्धि के साधन पर प्रकाश डालते हुए केनोपनिषद् में विवेचन किया है—

आत्मना विन्दते वीर्यं, विद्यया विन्दतेऽमृतम्।

(२-४)

अर्थात्—"परमात्मा से प्रकट हुआ ज्ञान ही यथार्थ है, क्योंकि इसके द्वारा ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। आत्मा से परमात्मा को जानने की प्रेरणा प्राप्त होती है और ज्ञान से अमृत स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।"

हमारे महापुरुष सदैव इस बात पर जोर देते आये हैं कि मनुष्य ज्ञानवान् बनें। विद्या को मनुष्य का आभूषण बताया और कहा है कि ज्ञान ही तुम्हें बन्धन से मुक्त करेगा और अमृतत्व प्रदान करेगा पर उन्होंने यह बात भी स्पष्ट कर दी कि यह विद्या लौकिक नहीं हो सकती। यथार्थ विद्या ब्रह्म विद्या है। उसका मनन करने से आत्मा के रहस्य ज्ञात होते हैं, वास्तविक रूप का ज्ञान होता है और यह ज्ञान ही मनुष्य को सृष्टि के आदि कारण परमात्मा को जानने की प्रेरणा प्रदान करता है।

विद्या के विशुद्ध ग्रहणीय स्वरूप का और भी विवेचन ईशोपनिषद् में हुआ है—

विद्या चाविद्यां च यस्तद् वेदोयः सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

(११ वाँ मन्त्र)

अर्थात्—"जो मनुष्य विद्या रूप ज्ञान तत्व और अविद्या रूप कर्म तत्व को साथ ही साथ जान लेता है, वह कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पार कर ज्ञान के अनुष्ठान से अमृतत्व का उपभोग करता है।"

उपनिषद् के यह सभी प्रकरण अमृत-तत्व के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं पर साथ ही मनुष्य को भूल न होने देने के लिये यह भी आगाह कर देते हैं। अमृत मौलिक, अर्थ में मृत्यु से छुड़ाने वाला पदार्थ है पर मृत्यु को आध्यात्मिक रूप में शरीर का बारम्बार विनाश मानकर जीव के अज्ञान को मानना पड़ेगा। क्योंकि जब तक अज्ञान रहता है तब तक मनुष्य के सारे क्रियाकलाप स्थूल भोगों तक ही सीमित रहते हैं। विषय भोगों के प्रति आसक्ति मनुष्य से पाप कराती है और बार-बार कर्मानुसार मृत्यु पाता है, पुनर्जन्म लेता है। जब तक यह स्थिति चलती रहती है तब तक उसके दुःख नष्ट नहीं होते।

मृत्यु हमारे जीवन की अतिथि

संसार के सबसे बड़े आश्चर्य-सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुए धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा था—"संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि नित्य प्रति दूसरों को मरते देख कर भी मनुष्य अपनी मृत्यु में विश्वास करने को तैयार नहीं होता। वह समझता है कि और कोई भले ही मरे पर वह सदा सर्वदा धरती पर बना रहेगा।"

निःसन्देह यह एक बहुत बड़ा आश्चर्य है कि नित्य प्रति अनेकों को मृत्यु-मुख में जाते देखकर हम अपने सम्बन्ध में मृत्यु को अवश्यम्भावी मानने को तैयार नहीं होते। हर मनुष्य जो अपने पूर्व पुरुषों की एक लम्बी परम्परा में चला आ रहा है और यह जानता

है कि उसके पूर्व पुरुष उसी की तरह इस पृथ्वी पर विद्यमान थे पर आज उनमें से कोई भी नहीं है। सब ही मृत्यु के मुख में समा कर इस धराधाम से नाता तोड़ गये। पूर्व पुरुषों की इतनी लम्बी शृंखला जब मिटती चली आई है तब हममें ही ऐसी कौन सी विशेषता है कि मृत्यु, पूर्व पुरुषों की तरह, एक दिन, हमको भी अपना मेहमान न बना लेगी। हर मनुष्य को एक दिन मृत्यु का मेहमान बनना ही होगा। परमात्मा का यह अटल नियम किसी के लिये भी अपवाद नहीं बन सकता।

सोचने की बात है कि यदि मनुष्य के लिये, परमात्मा ने मृत्यु का अनिवार्य प्रतिबन्ध न लगाया होता तो क्या आज तक पृथ्वी पर इतनी जनसंख्या न हो जाती कि इस धरती पर तिल रखने की भी जगह न रहती। तब कहाँ तो मनुष्य रहता, कहाँ खेती करता, और कहाँ जीविका के अन्य साधन स्थापित करता? वह अनन्ततम जनसंख्या क्या खाती, क्या पीती और क्या पहनती? आज जब मृत्यु का अनिवार्य प्रतिबन्ध लगा हुआ है, हजारों लाखों मनुष्य नित्य संसार खाली करते जा रहे हैं तब तो जन संकुलता की वृद्धि ने मानव समाज के सामने भोजन, वस्त्र तथा निवास की समस्या विकट रूप में खड़ी कर दी है। यदि मृत्यु का प्रतिबन्ध न रहा होता तो इस संसार, इस मानव समाज की क्या दशा हो जाती इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती और यदि आज भी यह प्रतिबन्ध उठा लिया जाय तो कुछ ही समय में हम सब की क्या दुर्दशा हो जाये, क्या इसका अनुमान कोई कर सकता है?

जब मरने का भय हर समय सिर पर सवार रहता है, साथ ही किस समय मृत्यु आ सकती है इसका भी पता नहीं तब तो मनुष्य अपने लिये न जाने कितना संग्रह करता रहता है। वह सब उसे किसी समय भी छोड़ देना पड़ सकता है। दिन रात चोरी, मक्कारी, ठगी, छीना-झपटी, शोषण आदि कुकृत्यों द्वारा दूसरों को, दिन-रात रिक्त करने में जुटा रहता है। यदि उसे अमरता का आश्वासन मिल जाये तो लिप्सालु मनुष्य कितना प्रचंड पिशाच बन जाये यह कह सकना कठिन है।

मृत्यु की अनिवार्यता की स्थिति में तो मदोन्मत्त व्यक्ति नित्य नये ध्वंस रचता एक दूसरे को खा जाने की कोशिश करता रहता है। सदाजीवी होने पर उसकी उद्धतता न जाने क्या कर डालती? संसार में हर ओर हर समय केवल रक्तपात ही होता दिखाई देता। न कहीं कोई मनुष्य शांतिपूर्वक सृजन करता दिखाई देता और न भजन करता।

यदि मृत्यु न होती तो पुराने स्थान छोड़ते नहीं और नये उन्हें पाना चाहते—इस स्थिति में हर समय नये पुराने का संग्राम छिड़ा रहता। पिता-पुत्र को और पुत्र अपने पुत्र को अपना स्थान अथवा उत्तराधिकार देने को तैयार न होता। लोग अपने अनन्त जीवनयापन की आवश्यक वस्तुओं में से एक कण तक अपने आश्रितों अथवा सन्तानों को देने में झिझकते। आत्मयापन की चिन्ता एवं आवश्यकता के दबाव में लोग कितने स्वार्थी एवं कितने संग्राहक और कितने कृपण हो जाते, क्या किसी प्रकार इसका अनुमान लगाया जा सकता है? चिरस्थायी जीवन पाकर मनुष्यों में एक दूसरे के प्रति त्याग, सहानुभूति, सौहार्द्र, सहयोग, सहायता, स्नेह, सौजन्य एवं आत्मीयता का कोई भाव रहता ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

संसार में जो नवलता एवं नवीनता के दर्शन होते हैं, जिस सरसता एवं सुन्दरता की अनुभूति होती है वह सब पूर्वापूर्व के गमनागमन की प्रक्रिया के कारण ही दिखाई देती है। यदि इस पावन प्रक्रिया का प्रभाव न रहा होता तो पट परिवर्तन के अभाव में विश्व रङ्गमंच पर चलने वाला यह जीवन-नाटक एकरसता, एक-रूपता एवं एक दृश्यता के कारण कितना नीरस, कितना अरुचिकर, कितना अप्रिय, कितना बोझिल और कितना असह्य हो जाता—इसका उत्तर, मनुष्य अपनी नव-रुचि एवं परिवर्तन-प्रिय वृत्ति से पूछ सकता है।

जीवन के किंचित् समय में ही मनुष्य न जाने कितनी बार, कितनी तरह की आधि-व्याधि, ईति-भीति, दुःख-दारिद्र्य एवं शोक सन्तापों का शिकार बनता रहता है और कष्ट क्लेशों से घबरा कर मृत्यु माँगने लगता है—यदि उसे समापन शून्य निर्विराम जीवन मिल

जाये तब उसकी यातनायें कितनी दीर्घ जीविनी हो सकती हैं क्या मृत्यु से द्वेष मानने वाले मनुष्य कभी इस पर विचार करते हैं? संसार में मनुष्य अपनी बारी में जो कुछ सुख-शान्ति, साधन-सुविधा अथवा रसानुभूति, पा रहे हैं, अथवा जो अपनी बारी में पा चुके हैं और जो आगे पायेंगे वह सब मृत्यु के अनिवार्य प्रतिबन्ध के कारण ही सम्भव हुआ और होगा। यदि यह प्रतिबन्ध न रहा होता या आज उठ जाये तो हमारा यह संसार रौरव नरक में भी भयानक, बन जाये— इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। मृत्यु मनुष्य के लिये एक मैत्रीपूर्ण वरदान है। इसे परमात्मा की असीम अनुकम्पा समझ कर उसे बार-बार धन्यवाद देकर कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए।

मृत्यु से भयभीत होने वाले लोगों में अधिकतर वे ही लोग होते हैं जो जीवन को उस प्रकार नहीं जीते जिस प्रकार एक मनुष्य को जीना चाहिये। अकरणीय एवं दण्डनीय कर्मों की गठरी तैयार कर लेने वाला स्वभावतः भयभीत होगा ही। क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि उसने ऐसे-ऐसे कार्य किये हैं। जो माफ नहीं किये जा सकते और इसके लिये उसे परलोक में सजा पानी है। जीवन रहने तक वे उस यातना से बचे रह सकते हैं—इसीलिये मृत्यु की कल्पना तक से काँप उठते हैं।

यद्यपि कुकर्मों का कुफल मनुष्य को विविध प्रकार के रोग शोक और अपयश अपवाद के रूप में जीवन काल में भी भोगना पड़ता है और कभी-कभी कानून के शिकंजे में फंस कर भी दण्ड भोगना पड़ता है, किन्तु मनुष्य के कुकृत्यों का भोग यहाँ ही पूरा नहीं हो पाता। इन सबको पूरी तरह से परलोक में ही भरना पड़ता है। बहुत से कुकृत्य इस प्रकार के होते हैं जो मनुष्य अपनी चतुराई से समाज अथवा कानून से छिपाये रहता है और बहुतों के दण्ड से परिस्थिति अथवा संयोगवश बच जाया करता है। किन्तु जीवन के पश्चात् परलोक में क्या प्रत्यक्ष और क्या अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के कर्मों का पूरा-पूरा लेखा जोखा चुका लिया जाता है।

जिसने इस प्रकार का कुप्रबन्ध कर रखा है उसे तो मृत्यु से डर लगेगा ही। पर उसे मृत्यु से भला डर क्यों लगने लगा जिसने मन वचन कर्म से अपने जीवन को यथासाध्य ईमानदारी से पवित्र एवं निष्कलंक रखने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है और यदि संयोग प्रारब्ध, परवशता अथवा परिस्थितिवश जाने—अनजाने कोई अकृत्य कर भी गया है, तो उसके हृदय में खेद, पश्चाताप तथा आत्मग्लानि हुई है और आगे के लिये और भी सावधान हो गया है। ऐसे सावधान सुकृती को मृत्यु से कभी भय नहीं लगता। क्योंकि वह जानता है कि उसने ऐसा कोई काम नहीं किया जिसके लिये उसे परलोक में दण्ड पाना होगा।

मृत्यु से भयभीत होने वालों में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो जीवन की लम्बी अवधि को आलस्य विलास अथवा प्रमाद में गँवा देते हैं—यहाँ तक कि अपने सामान्य कर्त्तव्यों तथा आवश्यक उत्तरदायित्व को भी ठीक से नहीं निभाते। जब ऐसे लोगों को मृत्यु की याद आती है तब वे शोक करते हुये सोचने लगते हैं कि मैंने अति दुर्लभ मानव जीवन को यों ही व्यर्थ में गँवा दिया है। यदि इसका ठीक-ठीक मूल्यांकन किया होता तो न जाने कितना क्या कर सकता था। अब मृत्यु का झोंका आकर मुझे ले जायेगा और हाथ मलते हुये इस संसार से जाना होगा। इस प्रकार के आलसी एवं असावधान व्यक्ति पश्चाताप की आग में जलते हुये अमृत्यु मनाया करते हैं और चाहते हैं कि यदि उनकी दीर्घ जीवन की गारन्टी मिल जाये तो वे अब भी कुछ कर डालें। किन्तु खेद है कि उनको इस प्रकार की कोई गारन्टी नहीं मिल सकती। पर इससे भी ज्यादा खेद एवं आश्चर्य की बात यह होती है कि वे पश्चाताप में जलते हुये मृत्यु-चिन्ता से भयभीत तो होते रहते हैं किन्तु शेष जीवन को पूरी तरह से करणीय कर्मों में नहीं डुबा देते, जिससे जो कुछ थोड़ा बहुत—लोक परलोक बन सके, वही सही। यदि आज भी वे जितनी कामना अधिक जीवन की किया करते हैं, यदि उतनी चिन्ता अपने कर्त्तव्यों के लिये करें और पूरक गति से काम में जुट जावें तो सम्भव है

उनकी तन्मयता एवं तीव्रता विगत जीवन की क्षति पूर्ति कर दे। किन्तु दुर्भाग्य है कि दिन दिन आलस्य, विलास एवं प्रमाद का अभ्यासी मृत्यु की चिन्ता करने के अतिरिक्त कुछ करना नहीं चाहता।

धोखे से आना तो दूर यदि कह कर भी आये तब भी मृत्यु उन कर्मवीरों को भयभीत नहीं कर सकती जिनका अणु-अणु अपने पावन कर्त्तव्यों में आत्मविभोर होकर निमग्न रहता है। उन्हें जब अपने काम के सम्मुख दीन-दुनियाँ की खबर ही नहीं रहती तब भला मृत्यु जैसे निरर्थक विषय पर विचार करने के लिये न तो उसके पास फालतू समय ही होता है और न मस्तिष्क क्रिया करता है, मृत्यु की सुनसान दरीचियों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। कर्त्तव्यवान व्यक्ति दिन रात जिन्दगी के मुखर मार्गों में ही विचरण करता है। अकर्मण्यता, निष्क्रियता एवं अकर्त्तव्यशीलता मृत्यु की सबसे बड़ी स्मारिकायें हैं। उनको समीप न आने देने वाला कर्मवीर मृत्यु से डरना तो दूर उसकी याद तक नहीं करता।

धर्मवीर तो मृत्यु के नाम से पुलकित हो उठता है। जिसने सत्कर्मों द्वारा सुकृत की पूँजी जमा कर रक्खी है, धर्म धन का सम्बल संचय कर लिया है उसके लिये मृत्यु तो परलोक का निमन्त्रण होता है जहाँ उसके सत्कर्मों के पुरस्कार मिला करते हैं। जिसने अपने जीवन में परमार्थ पुण्य का पथ प्रशस्त किया है, अध्यात्म का चिन्तन एवं परमात्मा का स्मरण किया है उसकी आत्मा तो स्वयं ही शरीर बन्धन से मुक्त होने के लिये व्यग्र रहती है। वह सोचती है कि कब उसकी शरीर यात्रा समाप्त हो और कब वह पिंजड़े से छूटे पक्षी की तरह मोक्ष की ओर उड़ान भरे।

अडिग, अनिवार्य एवं आवश्यक सत्य मृत्यु से डरना क्या। बल्कि उसकी कल्पना से तो मनुष्य को अधिकाधिक सक्रिय होकर अपने लोक-परलोक को बनाने के लिये तीव्र से तत्पर हो जाना चाहिये। उसे अपने सुकृत कार्यों को यह सोच कर बढ़ा देना चाहिये

कि न जाने अतिथि, अनाहूत एवं अपूर्वज्ञात मृत्यु किस समय आ जाये। उसके आने से पूर्व वह सब कुछ कर ही डालना चाहिये जो कि हमें करना है और हमारे करने योग्य है।

मृत्यु से डरने का कोई कारण नहीं

मृत्यु का नाम सुनते ही साधारण व्यक्ति के होश उड़ जाते हैं और एक क्षण के लिए वह जैसे मर सा जाता है। मृत्यु से डरने का मानव का स्वभाव सा बन गया है। साधारण सा रोग, मामूली सी घटना, शत्रु का विचार आदि शङ्का जनक संयोग आते ही कमजोर आदमी काँप उठता है और सोचने लगता है कि कहीं यह बीमारी हमारे प्राण न ले ले। कहीं वह शत्रु हमें मार डालने की न सोच रहा हो। सम्भव है वहाँ जाने से हम किसी घातक घटना के शिकार बन जायें मृत्यु के भय से मनुष्य खाने-पीने और प्रतिकूलताओं से जमकर मोर्चा लेने से डरता रहता है।

यही नहीं, किसी की मृत्यु देखकर, किसी दुर्घटना का समाचार सुनकर भी अपनी मृत्यु की शङ्का से आक्रांत हो जाता है। यहाँ तक कभी-कभी स्वयं भी अकेले में संसार की नश्वरता का विचार आते अथवा अपनी आयु के बीत गये वर्षों पर विचार करने से भी वह मृत्यु भय से उद्विग्न हो उठता है। अंधेरे अथवा अपरिचित स्थानों में निर्भयता पूर्वक पदार्पण करने से भी उसे मृत्यु की शङ्का निरुत्साहित कर देती है। निःसन्देह मृत्यु का भय बड़ा ही व्यापक तथा चिरस्थायी होता है।

किन्तु, यदि इस मृत्यु भय पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाये तो यह बड़ा ही क्षुद्र तथा उपहासास्पद ही प्रतीत होगा। पहले तो जो अनिवार्य है, अवश्यम्भावी है उसके विषय में डरना क्या? जब मृत्यु अटल है और एक दिन सभी को मरना है तब उसके विषय में शङ्का का क्या प्रयोजन हो सकता है? यह बात किसी प्रकार भी

समझ में आने लायक नहीं है। हमारे पूर्वजों की एक लम्बी परम्परा मृत्यु के मुख में चली जा चुकी है और आगे भी आने वाली प्रजा उनका अनुसरण करती ही जायेगी तब बीच में हमें क्या अधिकार रह जाता है कि उस निश्चित नियति के प्रति भयाकुल अथवा शङ्काकुल होते रहें। मृत्यु को यदि जीवन का अन्तिम एवं अपरिहार्य अतिथि मानकर उसकी ओर से निश्चिंत हो जायें, तो न जाने अन्य कितने भयों से हम अनायास ही मुक्ति पा जायें, मृत्यु का भय ही वस्तुतः सारे भयों की जड़ अथवा बीज है।

मृत्यु का भय अधिकतर सताता उन्हीं लोगों को है जो इस मानव-जीवन का महत्त्व नहीं समझते और इसकी लम्बी अवधि को आलस्य, विलास एवं प्रमाद में बिता देते हैं और अपने आवश्यक कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों के प्रति ईमानदार नहीं रहते। कामों को अधूरा छोड़ छोड़कर ढेर लगा लेने वाले जब देखते हैं कि उनकी जीवन अवधि की परिसमाप्ति निकट आ गई है और उनके तमाम काम अधूरे पड़े हैं तब वे मृत्यु के भय से काँप उठते हैं। सोचते हैं मेरी जिन्दगी बढ़ जाती, मृत्यु का निरन्तर बढ़ा चला आ रहा अभियान रुक जाता तो मैं अपने काम पूरे कर लेता। किन्तु उनकी यह कामना पूरी नहीं हो पाती। मृत्यु आती है और अकर्मण्यता के फलस्वरूप उनकी चोटी पकड़कर घसीट ले जाती है।

इसके विपरीत जिसने अपने कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों को रुचि एवं तत्परता से पूरा किया है, जीवन के करणीय कार्यों की उपेक्षा नहीं की है, आयु के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग किया है उसे मृत्यु से डरने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। वह मृत्यु आने पर हँसता मुसकाता हुआ उसका स्वागत करता है और मृत्यु उससे सन्तुष्ट माता की तरह प्यार से गोद में उठाकर ले जाती और उन दिव्य स्थानों में पहुँचा देती है जहाँ उसके कर्त्तव्य के पुरस्कार उसकी प्रतीक्षा कर रहे होते हैं। अकर्त्तव्यता एवं अकर्मण्यता दोनों ही ऐसे दोष हैं जो मृत्यु भय को न केवल जागृत ही रखते है बल्कि बढ़ाकर

भयानक से भयानक तर बना देते हैं। मृत्यु का भय कायर की वृत्ति है कर्मवीर तो उसे मित्र तथा माता मानकर किसी समय भी उसका स्वागत करने को तैयार रहा करते हैं।

यदि मृत्यु से भयभीत होने का स्वभाव स्थायी हो गया है और वह किसी प्रकार भी बदलते नहीं बनता तो भी उसका लाभ उठाया जा सकता है। जिस प्रकार शत्रु का भय सदैव सतर्क एवं सन्नद्ध बना देता है, सुरक्षा के प्रबन्धों तथा व्यवस्था के लिए सक्रिय रखता है उसी प्रकार मृत्यु को एक आकस्मिक आपत्ति समझकर सतर्क एवं सावधान हुआ जा सकता है। यह बात सत्य है कि मनुष्य शरीर छोड़ने से उतना नहीं डरता जितना 'मृत्यु के बाद न जाने क्या गति होगी—इस विचार से भयभीत होता है। उसे आशङ्का रहती है

यदि यह आशङ्का मृत्यु भय को जन्म देती है—तब क्यों न ऐसे कर्मों, ऐसी गतिविधियों में संलग्न हो जाया जाये जिससे कि अन्धेरे लोकों तथा अधम योनियों की आशङ्का ही दूर हो जाये। अधिक से अधिक जितना प्रकाश जितना, आलोक और जितना उजेला हम इकट्ठा कर सकें क्यों न कर लें। जिससे कि परमगति में अपनी आत्मा के प्रकाश से अपना पथ प्रकाशित करलें। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि उजेले की प्राप्ति उज्ज्वल एवं आदर्श कर्मों से ही होती है। पुण्य, परमार्थ, परोपकार, पर सेवा और पावन जीवन पद्धति से आत्मा में अक्षय प्रकाश के भण्डार भर जाते हैं। इससे पूर्व कि मृत्यु आये और अपमान पूर्वक चोटी पकड़ कर घसीट ले जाये क्यों न सत्पथ पर अग्रसर होकर प्रकाश का प्रबन्ध कर लिया जाये। क्यों न उस पुण्य प्रधान सम्बल को एकत्र कर लिया जाये जो हमारा, हमारी आत्मा का अनन्त एवं अगत पथ में सहायक बने।

इस विषय में साधन सामान की शिकायत करना उचित नहीं। कोई भी सत्कर्म फिर चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा यदि सच्ची परमार्थ भावना से किया गया है। समान फल ही उत्पन्न करता है। क्योंकि कर्म से भावना ही प्रधान होती है उसका आकार प्रकार

नहीं। आइये, हम अपनी वासनाओं तृष्णाओं तथा एषणाओं को त्याग कर स्वार्थ तथा संकीर्णता को तिलांजलि देकर क्रूरता, कपट और असत्य को बहिष्कृत कर द्वेष, दुर्भाव तथा दयनीयता को छोड़कर— दया-दाक्षिण्य, उदारता, प्रेम, सौहार्द्र,दान तथा धर्म भावना के अक्षय दीप जला लें तब देखें। मृत्यु का भय, परलोक का अन्धकार हमारी तटस्थ बुद्धि को किस प्रकार विचलित कर सकता है। अपने अधूरे कामों को पूरा क़रने में जुट जाइये, अपने कर्त्तव्यों से मुँह न चुराइये पुण्य परोपकार का कोई अवसर न जाने दीजिये और अपनी आत्मा पर विश्वास कर जीवन को प्रखर गति से आगे बढ़ाइये, मृत्यु से भयभीत होने का कोई कारण न रह जायेगा। हो सकता है एक लम्बे प्रमाद के कारण आपके इतने काम अधूरे रह गये हैं जिन्हें अब अवशेष अवधि में पूरा करना सम्भव नहीं तब भी चिन्ता की कोई बात नहीं आपको उन्हें पूरा करने का फिर अवसर मिलेगा। भावना के बदलते ही पश्चात्ताप के साथ क्रियाशील हो उठने पर मनुष्य के पूर्व अपराध क्षमा कर दिये जाते हैं और उसे एक बार फिर अपना सुधार करने और सुपथ निर्माण करने के लिए समय व अवसर दिया जाता है। यह सो साधारण सांसारिक व्यवहार में भी होता रहता है फिर उस परम पिता की सुन्दर, करुणा तथा दया पूर्ण विधान धारा में तो यह और भी सरल है।

इस साधारण पक्ष के साथ-साथ मृत्यु के सम्बन्ध में एक अधिक गहरा और सत्य पक्ष भी है। जो इसका दार्शनिक पक्ष कहा जाता है। मनुष्य का जीवन दो तत्वों से मिलकर बना है। शरीर और उसमें निवास करने वाली चेतना। जीवन के चेतन-तत्त्व ही वास्तव में हम हैं। यह मृत्तिका पिंड तो उस चेतन की अभिव्यक्ति माध्यम मात्र है। उसका वाहन भर ही है। रथ में बैठकर चलने वाला मनुष्य यदि स्वयं को रथ मान ले तो उसके नष्ट हो जाने पर मनुष्य को स्वयं अपने को ही नष्ट मान लेना चाहिए। किन्तु ऐसा होता कहाँ है। रथ अथवा वाहन के नष्ट हो जाने पर भी उसका रथी अथवा सवार

यथावत बना ही रहता है। हाँ जब उसको अपने वाहन के प्रति अनुचित ममता हो जाती है उसे ही अपना अस्तित्व एवं सर्वस्व मान बैठता है तो अवश्य ही उसके नष्ट होने अथवा नष्ट होने की कल्पना से दु:ख होता है। किन्तु यह तो अज्ञान है। इसको किसी भी प्रकार से मान्यता नहीं दी जा सकती।

अपने को शरीर समझने वाले अज्ञानी व्यक्ति ही तो मृत्यु अर्थात् देहावसान से भयभीत रहा करते हैं। जो बुद्धिमान अपने को चेतन स्वरूप समझते हैं—जो कि वास्तव में उनका स्वरूप है भी—वह मृत्यु के भय से कदापि क्लांत नहीं होते। क्योंकि उनकी मृत्यु होती ही नहीं है। चेतन अथवा आत्मा अक्षय तथा अजर-अमर है उसकी मृत्यु होना तो दूर उसे कोई विकार तक नहीं घेरता और यही अमर आत्मा ही तो मनुष्य का वास्तविक अस्तित्व उसका सच्चा स्वरूप है। देहाभिमान ही मृत्यु का मूल कारण है। इसे छोड़कर अपने सत्य स्वरूप आत्मा में विश्वास करिये आपको मृत्यु का भय होने का कोई कारण ही न रह जायेगा। शरीर तो आत्मा की सहायता, उसका अलंकरण तथा प्रकाश करने के लिये बदलते ही रहते हैं हर शरीर पात के बात आत्मा को एक नया तथा सुन्दर शरीर मिलता रहता है—तब यह तो हर्ष तथा प्रसन्नता की ही बात हुई इसमें खेद अथवा दु:ख करने का क्या प्रयोजन हो सकता है। भगवान् ने गीता (२/२२) में इस सत्य का उद्घाटन करते हुए स्पष्ट घोषणा कर दी है।

'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥'

अब इतने पर भी यदि कोई व्यक्ति मृत्यु से भयभीत होता है तो यह उसका दुर्भाग्य ही है कि वह जो कुछ है वह अपने को न मान कर वह मानता है जो वास्तव में है नहीं।

इस सत्य से कौन इनकार कर सकता है कि दिन भर काम करने के बाद शरीर थक जाता है तो रात्रि में विश्राम की आवश्यकता

होती है मनुष्य मीठी नींद सोकर दूसरे दिन के लिये नई नई स्फूर्ति तथा शक्ति से भर जाता है। तब जीवन की एक लम्बी अवधि तक चलते रहने पर आत्मा यदि विश्राम करने के लिये मृत्यु रूपी नींद की गोद में चली जाती है तो इसमें खेद की क्या बात है। मृत्यु का एक विश्राम लेकर वह पुन: किसी दूसरे शरीर में जागती है और नवीन स्फूर्ति नये उत्साह से अपने लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसर हो चलती है।

एक नहीं हजार तर्क तथा युक्तियों से यह बात सिद्ध होती है कि मृत्यु यदि उसका वरण ठीक स्थिति में किया जाये तो जीवन से कहीं अधिक सुखकर तथा विश्रामदायिका ही पाई जाती है। महात्मा गांधी के इस कथन में कितना यथार्थ सत्य छिपा हुआ है। इसको देख समझ कर भी क्या मृत्यु से घबराने, उससे घृणा करने अथवा उसे नवरणीय मानने का कोई कारण हो सकता है। वे लिखते हैं—

मुझे तो बहुत बार ऐसा लगता है कि मृत्यु को जीवन की अपेक्षा अधिक सुन्दर होना चाहिए। जन्म से पूर्व माँ के गर्भ में जो यातना भोगनी पड़ती है उसे छोड़ देता हूँ, पर जन्म लेने के बाद तो सारे जीवन भर यातनायें ही भुगतनी पड़ती हैं। इसका तो हमें प्रत्यक्ष अनुभव है। जीवन की पराधीनता हर मनुष्य के लिये एक सी है। जीवन यदि स्वच्छ रहा तो मृत्यु के बाद पराधीनता जैसी कोई बात न होनी चाहिए। बालक जन्म लेता है तो उसमें किसी तरह का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के लिये कितना परिश्रम करना पड़ता है फिर भी आत्मज्ञान नहीं हो पाता, पर मृत्यु के बाद तो ब्राह्मी स्थिति का बोध सहज ही हो जाता है। यह दूसरी बात है कि विकार युक्त होने के कारण उसका लाभ न उठा सकें। किन्तु जिनका जीवन शुद्ध और पवित्र होता है उन्हें तो उस समय बन्धन मुक्त ही समझना चाहिए। सदाचार का अभ्यास इसीलिए तो जीवन में आवश्यक बताया जाता है ताकि मृत्यु होते ही मनुष्य शाश्वत शाँति की स्थिति प्राप्त कर ले।"

वास्तविक बात तो यह है कि जिस मनुष्य ने अपने अपकर्मों द्वारा जीवन को काला बना लिया है। पुण्य प्रकाश से कोई वास्ता

नहीं रखा उसका मृत्यु से डरना तो क्या जीवन तक से डर लगा रहता है। सदाचार तथा पुण्य परमार्थ से आलोकित जिन्दगी में तो आनन्द है ही मृत्यु के पश्चात तो अक्षय आनन्द के कोष खुल जाते हैं। मृत्यु का भय छोड़िये और अपने पुण्य पुरुषार्थ द्वारा जीवन एवं मृत्यु दोनों को एक वीर योद्धा की तरह विजय कर अक्षय पद प्राप्त कर लीजिये।

मौत से न डरिये, वह तो आपकी मित्र है

मृत्यु के बारे में सामान्य व्यक्तियों की कल्पनायें बड़ी भयावह होती हैं। सारा भय संसार में मौत का ही है। अँधेरे में पाँव रखते जी काँपता है सोचते हैं कहीं सर्प न काट ले। साधारण-सी बीमारी से व्याकुल हो जाते हैं। सोचते हैं कहीं हृदय गति न रुक जाय। दुश्मन से घबड़ाते हैं, कहीं प्राण न हर ले। सर्वत्र मौत का ही भय समाया है, खाते, पीते, चलते, फिरते, उठते, बैठते एक ही आशंका परेशान रखती है, कहीं कुछ हो न जाय जो मौत के मुँह में जाना पड़े।

मौत का विश्लेषण करने से पहले कुछ आत्म-तत्व पर विचार कर लें। यह देखते हैं कि सम्पूर्ण शरीर किन्हीं दो वस्तुओं के सम्मिश्रण से बना है। शरीर और उसकी चेतना—यह दो अलग-अलग वस्तुयें हैं। भ्रम इसलिये होता है कि शरीर की तरह ही चेतन-तत्व दृश्य नहीं है। उसे इन स्थूल आँखों से नहीं देखा जा सकता। फिर भी उसके अस्तित्व से तो इनकार नहीं किया जा सकता। यदि शरीर ही सब कुछ होता तो संभवतः मृत्यु ही नहीं होती या फिर उसका स्वरूप ही कुछ और होता। शरीर की विभिन्न क्रियाओं और चेष्टाओं से भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि वह किसी भिन्न तत्व से पराविष्ट है। यह मूलतः आत्मा का सूक्ष्म शरीर ही हो सकता है। भेद सिर्फ इसलिये है कि वह अदृश्य है और हम विश्वास केवल दृश्य पदार्थों पर ही करते हैं।

किसी बैटरी के सेल तोड़कर देखिये आपको कहीं भी विद्युत दिखाई नहीं देगी। रासायनिक तत्व, जिंक, पीतल या ताँबे की छड़ आप भले ही देख लीजिये पर बिजली नाम की कोई वस्तु देखने को नहीं मिलेगी। जिन तारों से बिजली दौड़ रही हो उन्हें गौर से देखिये आपको कोई भी वस्तु रेंगती हुई दिखाई न देगी। किन्तु "टंगस्टन" तारों में वही बिजली प्रवाहित होकर प्रकाश के रूप में दिखाई देने लगती है। अतः किसी भी अवस्था में बिजली के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकते।

ठीक यही अवस्था शरीर में आत्म-तत्व की है। वह भी चेतन है वही "मैं" हूँ—इसे जानना चाहिये। जब यह जान लेते हैं कि मनुष्य शरीर नहीं शक्ति है तो हमारे सारे लक्ष्य परिवर्तित हो जाते हैं। दृष्टिकोण ही बदल जाता है। इतनी-सी बात को समझाने के लिए ही मनुष्य के आगे तरह-तरह की घटनायें, ज्ञान और विवेक रखा जाता है।

मृत्यु का भय केवल इसलिये है कि शरीर चला जायेगा। हम समझते हैं कि शरीर चला गया तो सारे सुख चले गये पर यह नहीं सोचते कि सुख चेतना की अनुभूति मात्र है। भोक्ता शरीर नहीं है। शरीर केवल वाहन है। वह एक प्रकार से हमारी सवारी है।

यह बात जान लेने की है कि आत्मा अजर-अमर है तो शरीर के प्रति आसक्ति का भाव नहीं होना चाहिये। शरीर वह साधन मात्र है जिससे हम चाहें तो परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं किन्तु जब मूल लक्ष्य भूल जाता है और शरीर के सुख ही साध्य हो जाते हैं तो मनुष्य को मौत का भय सताने लगता है। यह एक तरह से मनुष्य का अज्ञान ही है अन्यथा मृत्यु मनुष्य के लिए हितकारक ही है। जीर्ण-शीर्ण शरीर की उपयोगिता भी क्या हो सकती है? प्रकृति हमें नया शरीर देने के लिये ही तो अपने पास बुलाती है। "नया शरीर प्राप्त होगा"—इससे तो प्रसन्नता होनी चाहिये। दुःख की इसमें क्या बात है। अच्छी वस्तु प्राप्त करने में तो हर्ष ही होना चाहिये।

महात्मा गांधी ने लिखा है "मुझे तो बहुत बार ऐसा लगता है कि मृत्यु को जीवन की अपेक्षा अधिक सुन्दर होना चाहिए। जन्म से पूर्व माँ के गर्भ में जो यातना भोगनी पड़ती है उसे छोड़ देता हूँ, पर जन्म लेने के बाद तो सारे जीवन भर यातनायें ही भुगतनी पड़ती हैं। इसका तो हमें प्रत्यक्ष अनुभव है। जीवन की पराधीनता हर मनुष्य के लिये एक सी है। जीवन यदि स्वच्छ रहा तो मृत्यु के बाद पराधीनता जैसी कोई बात न होनी चाहिए। बालक जन्म लेता है तो उसमें किसी तरह का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के लिये कितना परिश्रम करना पड़ता है फिर भी आत्मज्ञान नहीं हो पाता, पर मृत्यु के बाद तो ब्राह्मी स्थिति का बोध सहज ही हो जाता है। यह दूसरी बात है कि विकार युक्त होने के कारण उसका लाभ न उठा सकें। किन्तु जिनका जीवन शुद्ध और पवित्र होता है उन्हें तो उस समय बन्धन मुक्त ही समझना चाहिए। सदाचार का अभ्यास इसीलिए तो जीवन में आवश्यक बताया जाता है ताकि मृत्यु होते ही मनुष्य शाश्वत शाँति की स्थिति प्राप्त कर ले।"

दार्शनिक सुकरात का भी ऐसा ही कथन है। उन्होंने लिखा है—"मृत्यु के बारे मे सदैव प्रसन्न रहो, और इसे सत्य मानो कि भले आदमी पर जीवन या मृत्यु के पश्चात् कोई बुराई नहीं आ सकती।" इसलिये मृत्यु से घबड़ाने का कोई कारण हमारी समझ में नहीं आता। मृत्यु से एक शिक्षा हमें मिलती है और वह यह है कि हमसे जितना शीघ्र हो सके परमात्मा को जान लें क्योंकि उसके जाने बिना, जीवन के पाप और बुराइयाँ साथ नहीं छोड़तीं। तरह-तरह की आकांक्षायें पीछे पड़ी रहती हैं। शरीर इस दृष्टि से एक अत्यंत उपयोगी यन्त्र है। जीवन साधना के समस्त उपयोगी उपकरण इसमें मौजूद हैं अतः शरीर की यदि कुछ उपयोगिता हो सकती है तो वह इतनी ही है कि अपने ज्ञान, बुद्धि और विवेक के द्वारा, शिक्षा, विचार और वाणी के द्वारा बाह्य और आन्तरिक स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त कर लें ताकि फिर दूसरी योनियों में भटकना न पड़े। शरीर के सुख इस दृष्टि

से न तो आवश्यक ही हैं और न उपयोगी ही हैं। हमारा उद्देश्य जीवन-शोधन और पारमार्थिक लक्ष्य की प्राप्ति ही होना चाहिये।

मृत्यु से डरने की आवश्यकता इसलिये भी नहीं है कि वह एक अनिवार्य स्थिति है। मनुष्य यदि डरे भी तो भी उससे छुटकारा नहीं मिल सकता। जितना जीवन आपको मिला है उससे अधिक कदापि नहीं प्राप्त कर सकते। फिर आप डरें क्यों? बुद्धिमानी तो इसमें है कि आप इस अनिवार्य स्थिति का लाभ उठा लें। आप मृत्यु को बुराइयों से आगाह करते रहने वाला मित्र समझें ताकि इस संसार में रहकर आत्म-कल्याण और परमार्थ के कार्य सुचारु रूप से कर सकें। जितनी जल्दी हो सके आप शुभ कर्मों का अधिक से अधिक संचय कर लें ताकि पटाक्षेप के बाद आप को किसी तरह पछताना न पड़े।

दिन-भर काम करते हुए शरीर थक जाता है तो रात्रि में विश्राम की आवश्यकता पड़ती है। सोना एक प्रकार से थकावट मिटाने की क्रिया है रात पूरी नींद पा लेने से शरीर अगले दिन के लिये पूर्ण स्वस्थ और ताजा हो जाता है। एक नई शक्ति और नवीन प्राण भर जाता है जिससे दूसरे दिन शाम को अथक परिश्रम करते रहते हैं। मृत्यु भी जीवात्मा की ठीक ऐसी ही स्थिति है। जीवन-भर की थकावट मृत्यु की गोद में ही जाकर दूर होती है। अगले जीवन के लिए शक्तिदायिनी स्थिति का नाम ही मृत्यु है। फिर इसे शत्रुवत क्यों देखें। परम विश्राम की अवस्था से हमें प्यार होना चाहिये। फिर इससे हमें लाभ ही तो है। नया जीवन, नई चेतना और नई स्फूर्ति मृत्यु के उपरान्त ही प्राप्त होती है।

मृत्यु से केवल कायर ही डरते हैं

मृत्यु, मनुष्य जीवन की एक अवश्यम्भावी घटना है। संसार में कुछ और सत्य अथवा अटल हो या न हो, किन्तु मृत्यु एक अटल एवं अनिवार्य सत्य है। मनुष्य जीवन का उदय और अस्त प्रकृति का एक अनिवार्य नियम है। जो संसार में उत्पन्न हुआ है उसे एक

दिन जाना अवश्य है। मृत्यु के सम्बन्ध में इस अखण्ड अनिवार्यता को जानते हुए भी लोग न जाने मृत्यु से डरते क्यों हैं?

मृत्यु का विचार आते ही लोग अजीब तरह से हताश तथा उदास हो जाते हैं। मृत्यु का नाम हृदय पर एक ऐसा धक्का मारता है, जिससे, जब तक उसका प्रभाव दूर नहीं हो जाता, हृदय एक भयपूर्ण विरक्ति से भरा रहता है। मृत्यु का भय उन्हें यहाँ तक कायर तथा मिथ्यापूर्ण बना देता है कि नित्य-प्रति अनेक लोगों को मरते देखकर भी अपने मरने की कल्पना में संदिग्धता का समावेश कर लिया करते हैं। भय के कारण वे अपने हृदय में इस सत्य को पूरी तरह स्थान नहीं दे पाते कि एक दिन उन्हें इस संसार को छोड़ ही देना है।

इसमें सन्देह नहीं कि जो मनीषी व्यक्ति मृत्यु के अनिवार्य सत्य को साहस के साथ हृदयंगम कर लेते हैं वे न केवल उसके भय से ही मुक्त रहते हैं, प्रत्युत् जीवन का पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं। जिन्हें यह विश्वास रहता है कि न जाने मृत्यु किस समय अपनी गोद में उठाले, वे जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग कर लेने में बड़ी तत्परता तथा सतर्कता से लगे रहते हैं। वे बहुत कुछ, मृत्यु की बेला से पूर्व, कर डालने के लिये प्रयत्नों में कमी नहीं रखते। मृत्यु का वास्तविक विश्वास उन्हें अधिकाधिक सक्रिय बना देता है।

इसके विपरीत जो मिथ्याविश्वासी मृत्यु से डर-डर कर जीवन में रेंगते हैं वे बेचारे कुछ दूर भी ठीक से नहीं चल पाते और मृत्यु आकर उन्हें पकड़ ले जाती है। मृत्यु जब अटल है, अनिवार्य है, तब उससे डरना क्या? मृत्यु से न डरने वाले ही उसे वरण करके चिरंजीवी बनते हैं।

मृत्यु से अभय रहने वाला व्यक्ति उसे एक चुनौती मानकर साहस तथा उत्साहपूर्वक जीता हुआ यह कोशिश करता है कि वह जीवन के राजकुमार की तरह मृत्यु का मेहमान बने। जीवन की तरह मृत्यु भी उसे पाकर कृतार्थ हो जाये।

मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों में भय की गणना भी की गई है। किन्तु वह भय कायरता का नहीं सतर्कता का लक्षण है। यों तो कोई भी मरना नहीं चाहता। मृत्यु से बचने का हर सम्भव उपाय किया करता है। सड़क पर चलते मोटर से बचना, नदी में नहाते समय डूबने से सावधान रहना, मृत्यु भय नहीं है। हिंस्र जन्तुओं, रोगों तथा शत्रुओं से जीवन रक्षा करने में यथासम्भव उपायों का करना स्वाभाविक है। निरर्थक एवं निरुद्देश्य मर जाना कोई वीरता नहीं मूर्खता है। 'हाय मैं मर जाऊँगा' की भावना ही मृत्यु का वह भय है जो कायरता की कोटि में आता है। मनुष्य को "हाए मर जाऊँगा" की हीन भावना के वशीभूत होकर कायरता का परिचय नहीं देना चाहिये।

"हाय मर जाऊँगा" की भावना में रो तड़प कर मृत्यु से बचा तो जा ही नहीं सकता। उल्टे यह भावना जीवन को बोझिल एवं भयावह बना देती है, मृत्यु से निरपेक्ष रह कर जीवन रक्षा का हर सम्भव उपाय करते हुए, आ जाने पर साहसपूर्वक उसका सहर्ष आलिंगन करने में ही पुरुषार्थ की शोभा है। महान् मृत्यु के अवसर पर जीवन का मोह एक अश्रेयस्कर दुर्बलता है।

मृत्यु का भय उत्पन्न करने में परलोक की चिन्ता का बहुत बड़ा हाथ है। लोगों का यह सोचते रहना कि मर जाने के बाद न जाने हमारा क्या होगा, हम कहाँ किस लोक अथवा योनि में भ्रमण करेंगे, न जाने हमारी सद्गति होगी अथवा अगति, मृत्यु, भय को एक बड़ी सीमा तक बढ़ा देता है? परलोक की चिन्ता ठीक है। वह करनी भी चाहिये। किन्तु इस शुभ चिन्ता से मृत्यु के अशुभ भय का पैदा होना बड़ी ही असंगत तथा अस्वाभाविक बात है। फिर भी परलोक की चिन्ता से लोगों में मृत्यु का भय उत्पन्न होता है। इसका एक मात्र कारण लोक को बिगाड़ कर चलना है। परलोक का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। परलोक इस लोक की ही परिणति है। जिस प्रकार का हमारा लोक होगा हमारे लिये उसी प्रकार के परलोक की रचना

होगी। यदि हमने अपने आलस्य, अकर्म, अकर्त्तव्य अथवा अनीति अत्याचार से अपने लोक को दग्ध कर लिया है और ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, काम, क्रोध, मोह आदि विकारों तथा वासनाओं से विषैला बना लिया है तो निश्चय ही उसी के अनुसार हमें चलते हुए लोकों को साकार करने पर विवश होना ही होगा। यदि हम जानते हुये भी अपने कर्मों से पतित परलोकों की रचना के लिये लोक में नींव रख रहे हैं तो मृत्यु का भय हमें सतायेगा ही। क्योंकि हम जानते हैं कि जो कुछ हम कर रहे हैं मृत्यु के उपरान्त उसका दण्ड भोगना ही है और इसीलिये मृत्यु की कल्पना आते ही भय से सिहर उठते हैं।

इसके विपरीत यदि हम लोक को परलोक का आधार मान कर उसे सजाने, सँवारने और सुन्दर बनाने के शुभ प्रयत्नों को ईमानदारी से करते रहें तो मृत्यु कल्पना हमें विभोर करती रहे। क्योंकि हम जानते हैं हम जो कुछ शिव तथा सुन्दर कर रहे हैं वह हमारे लिये मंगलमय परलोक की रचना कर रहा है जिनको हम मृत्यु के उपरान्त पुरस्कार के रूप में पायेंगे।

मनुष्य का विचार सान्निध्य भी मृत्यु के विषय में भय अभय का कारण होता है। जिसकी चिन्तन-धारा जितनी अधिक जीवन के समीप रहेगी वह उतना ही कम मृत्यु से डरेगा और जिसके विचार जितना अधिक मृत्यु का चिन्तन करेंगे वह उतना ही उससे भयभीत रहेगा। मृत्यु का चिंतन क्या करना। वह अपने समय पर आयेगी, आती रहेगी। उसका विचार छोड़कर मनुष्य को जीवन की आराधना में लगा रहना चाहिये। चिन्तन का विषय जीवन है मृत्यु नहीं। मृत्यु का चिन्तन करने से जीवनी-शक्ति का ह्रास होता है जिससे मृत्यु का भय स्थायी रूप से सूक्ष्म में बस जाया करता है। ऐसी भय पूर्ण स्थिति में कर्त्तव्यों का पालन यथाविधि नहीं हो पाता जो स्वयं एक बड़ा दुःख प्रसंग होता है। मनुष्य जब ठीक प्रकार से अपने कर्त्तव्यों में लगा रहता है मृत्यु का भय उसके पास नहीं

फटकने पाता। कर्त्तव्यों की अपूर्ति इस विचार के साथ मृत्यु का भय लाती है कि यह नहीं कर पाया वह करने को रह गया है। सारा जीवन बेकार जा रहा है। यों ही दिन गुजर जायेंगे और एक दिन मृत्यु के मुख में चला जाना होगा। मनुष्य अपनी स्थिति के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का पालन तत्परता से करता रहे तो भी मृत्यु का भय उसे नहीं सताने पाये। फिर वह कर्त्तव्य छोटे हों अथवा बड़े, साधारण हों अथवा असाधारण, कर्त्तव्यहीन, अकर्मण्यता तो साक्षात् मृत्यु ही कही गई है।

बहुत से लोग अपने बाद की स्थिति पर विचार करते-करते मृत्यु से भयभीत होने लगते हैं। मेरे बाद न जाने क्या होगा। मेरे मर जाने पर बीबी बच्चे क्या करेंगे? कहाँ किसका आश्रय लेंगे। पता नहीं उन्हें क्या-क्या कष्ट उठाने पड़ेंगे। इस प्रकार की कल्पनायें निरर्थक जल्पनायें ही हैं। ऐसे लोग अपने को ही बीबी बच्चों का विधाता समझते हैं। वे समझते हैं कि जब तक वे जिन्दा हैं बीबी बच्चों के लिये स्वर्ग संचय कर रहे हैं उनके न रहने के बाद वे यातना पूर्ण नरक में गिर जायेंगे। मानों उन सबकी जीवन गाड़ी उनकी जिन्दगी से चल रही है जिसके खत्म होते ही सब का खेल खत्म हो जायेगा दूसरों के लिये अपने को सब कुछ समझना दम्भ है जब हम नहीं थे संसार का सारा काम चल रहा था और तब नहीं रहेंगे तब भी सब काम चलता रहेगा। संसार का कोई काम किसी के न रहने से रुकता नहीं।

यह बात सही है कि हमारा जीवन आश्रितों के लिए आवश्यक है। किन्तु इस आवश्यकता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम अपने न रहने की कल्पना के साथ उनका जीवन जोड़ कर कायरों की तरह मृत्यु भय से रोते कलपते रहें। अपने बाद की कल्पना के भयावह चित्र बनाने के बदले हमारी बुद्धिमानी इसी में है कि हम मरने से पूर्व ईमानदारी के साथ अपने आश्रितों की बहबूदी के लिए जो कुछ कर सकें करें। ऐसा करने से ही अपने बाद की

चिन्ता की सार्थकता है केवल कल्पना करते रहना मूर्खता ही होगी। मृत्यु को भय का कारण बनाने की अपेक्षा उसे अपने कर्मों का सजग प्रहरी बनाकर चलने वाले सदाशयी व्यक्ति यशस्वी जीवन के अधिकारी बनते हैं।

मृत्यु की भी तैयारी कीजिए

मृत्यु अपार शान्ति के सागर में विश्राम करना है। मृत्यु जीवन का परिपक्व फल है। मृत्यु व्यक्त और अव्यक्त के मिलने का महापर्व है। मृत्यु नवजीवन का आरम्भ है। सभी भाँति मृत्यु मंगलमय है, आनन्ददायी है। मृत्यु और जीवन का आनन्द साथ है। महर्षि वाल्मीक ने (रामायण २.१०५.२२) में कहा है—

"सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति।
गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते॥"

"मृत्यु" (जीवन के) साथ ही चलती है। वह साथ ही बैठती है। और सुदूरवर्ती पथ पर साथ-साथ जाकर ही लौट आती है।"

मृत्यु जीवन का इतना अनन्य आवश्यक अंग होते हुए भी हममें से अधिकांश लोग उसे भुलाये रहते हैं और जीवन की एक स्वाभाविक घटना से, मृत्यु से हम भयभीत हो उठते हैं। उसकी कल्पना मात्र से हम सिहर उठते हैं। साक्षात् मृत्यु आने पर तो रोने लगते हैं, छटपटाते रहते हैं, भयातुर होकर हाथ पैर फैंकने लगते हैं। अधिकाँश लोगों की मृत्यु इसी तरह होती है मृत्यु को न चाहना, मृत्यु का भय, मृत्यु के अवसर पर कष्टानुभूति, अव्यवस्था ये सब हमारे अपने ही प्रयत्नों का फल है। वस्त्र उतारने में जैसे कठिनाई न होनी चाहिये उसी तरह शरीर के जर्जरित रुग्ण चोले को उतार फेंकने में भी कष्ट न होना चाहिए। लेकिन ऐसा क्यों नहीं होता है इसका उत्तर देते हुए विदेशी विचारक मेरीबेल कहता है "यह सब इस कारण है कि हमने इससे अपनी जान-पहचान बढ़ाने का उद्योग नहीं किया।" मृत्यु को तो हम जीवन व्यापार में खोकर बिल्कुल ही

भूल जाते हैं। हमारे मन में कभी मरने की कल्पना भी नहीं होती, जिसका एक न एक दिन हमें स्पर्श करना ही होता है।

सुकरात कहते थे "मृत्यु के बारे में हमेशा प्रसन्न रहो।" मृत्यु प्रसन्न होने आनन्द मनाने का अवसर है लेकिन हम इसके बारे में कभी सोचते विचारते भी नहीं। अन्य बातों की तरह मौत से मिलने की तैयारी भी हम करें तो मिलन के शब्दों में "मृत्यु एक सोने की चाभी है जो अमरता के महल को खोल देती है।" सचमुच जो मरना जानते हैं उनके लिये मौत भयङ्कर नहीं होती।

वस्तुतः मृत्यु नये जन्म की तैयारी करने का अवसर है और जीवन मृत्यु की तैयारी करने अवसर है तो हमारा समस्त जीवन क्या है? मृत्यु के पड़ाव तक पहुँचने का मार्ग। लेकिन हम यह भूल जाते हैं और जीवन व्यापार अपने संग्रह के लिये करने लगते हैं। हमारा प्रत्येक कार्य ऐसा होता है मानो हमें इस धरती पर सदैव रहना है। मृत्यु की असली तैय्यारी बहुत ही कम लोग कर पाते हैं, लेकिन वे ही मौत को भगवान का निमन्त्रण मानकर, आनन्द का—मंगल का पर्व जानकार प्रसन्न होते हैं।

देशबन्धु दास ने मृत्यु के समय एक कविता लिखी थी जिसके भाव है "मेरे ज्ञानाभिमान की गठरी मेरे सिर से उतार ले। मेरी पुस्तकों की गठरी मेरे कन्धों से नीचे उतार ले। इस बोझ को उठाते-उठाते मैं अब बहुत जीर्ण-शीर्ण हो गया हूँ। मुझमें जान नहीं है। मैं बहुत थक चुका मेरे बोझों को उतार लो, प्रभो।"

"अब वेद की आवश्यकता है न वेदान्त की। अब तो सब कुछ भूल जाने दो प्रभु। अब मुझे आपका वह राज्य दिखाई दे रहा है। प्रभो! मैं तुम्हारे कुंज के द्वार पर खड़ा हूँ। अपने निर्वाणोन्मुख दीपक को प्रज्ज्वलित करने के लिये तेरे द्वार पर आया हूँ, भगवान।"

जो मृत्यु का मर्म जानते हैं वे इसी तरह मृत्यु को देख कर कविता रचने लगते हैं जैसे वसन्त की बहार को, बरसात की रिमझिम को, पक्षियों के कलरव को देख सुनकर। प्रिय के धाम में प्रवेश पाने

का अवसर है मृत्यु। पीहर में, माँ की ममतामयी अङ्क में मोद मनाने आह्लाद प्राप्त करने की मङ्गलबेला है–मृत्यु। इसीलिए तो सुकरात मरते समय अमृतत्व का आस्वादन कर रहा था अपने शिष्यों को हँसी–खुशी में मौत का अर्थ समझा रहा था। सन्त तुकाराम कीर्तन करते–करते मौत की गोदी में सो गये। गेटे "अधिक प्रकाश! अधिक प्रकाश!!" की चकाचौंध में लीन हो गये। लोकमान्य ने "यदा यदाहि धर्मस्य" वाला श्लोक बोलते–बोलते आँखें मूँद लीं। दयानन्द "प्रभु–इच्छा की पूर्ति" का स्मरण करते हुये अनन्त में विलीन हो गये। महात्मा बुद्ध "आत्मदीप का अर्थ" बताते हुये चल बसे। बापू "हे राम, हे राम" कह रहे थे। स्वतन्त्रता संग्राम के असंख्यों सेनानी 'अहले वतन' की याद में मस्ती भरे तराने गाते हुए मौत की गोद में कूद पड़े। हँसी–खुशी के साथ मौत का आलिंगन करने वाले अमर लोगों की गाथाओं से इतिहास भरा पड़ा है।

मौत से डरने वाले ही जन्म–मरण को बन्धन समझते हैं उससे पीछा छुड़ाने के लिये नाना प्रयत्न करते हैं लेकिन जो मृत्यु का रहस्य जानते हैं उनके लिये जीवन–मरण एक खेल है। महात्मा बुद्ध ने कहा था "मुझे निर्वाण मोक्ष नहीं चाहिए। मैं तो बार–बार जन्म लेता रहूँ, दीन–दु:खी लोगों की सेवा के लिए।" हमारे सन्त–ऋषि–महर्षियों के लिए मृत्यु आनन्द का पर्व है। शान्ति के अपार सागर में छलाँग लगाने की शुभ बेला है। चैतन्य महाप्रभु आनन्द की मस्ती में मतवाले होकर सागर में कूद पड़े थे। स्वामी रामतीर्थ के लिये मृत्यु भागीदारी की धारा में अपनी गोद फैलाये बैठी थी। माँ की सुखकर गोद को देखते ही स्वामी मचल उठे और कूद पड़े। उनके लिये दीपावली का पर्व बनकर आयी थी मृत्यु।

मृत्यु के क्षण ही जीवन की परीक्षा का समय होता है। इसी समय पर मालूम पड़ता है कि व्यक्ति ने पिछला जीवन कैसे बिताया। जो मरते समय रोयेगा, हाथ–पैर फेंकेगा, छटपटायेगा तो समझा जायेगा कि इस मनुष्य ने सारा जीवन रोते कलपते, इधर–उधर मृग मरीचिका

की तरह भाग-दौड़ करते बिताया है। जो मृत्यु के समय हँसेगा जिसके चेहरे पर शान्ति प्रसन्नता आनन्द की रेखायें फूट पड़ेंगी उसका जीवन सफल माना जायेगा। महापुरुषों की मृत्यु भी अलौकिक होती है। उन क्षणों में एक अपूर्व पर्व जैसा वातावरण बन जाता है। धरती पर दो आत्मीय व्यक्तियों के मिलने का अवसर कितना सुखद बन जाता है। लेकिन मृत्यु के अवसर पर तो आत्मा परमात्मा के दरवाजे पर पैर रखती है। प्रेमी अपने प्रियतम से मिलता है। भक्त अपने भगवान से। पुत्र अपनी माता से। इसलिए मृत्यु के समय भी आनन्द का, उल्लास का वातावरण होना ही चाहिए। मृत्यु एक पर्व है, जन्म जैसा ही।

मृत्यु के अवसर पर मनुष्य की स्मृति बहुत साफ हो जाती है। समय और पक्ष-विपक्ष की स्मृति बहुत साफ हो जाती है। उस समय जीवन भर के कर्म-घटनायें, सिनेमा की दृश्यावली की तरह एक-एक करके स्मृति पटल पर आने लगती हैं। जिसने जीवन का सही-सही उपयोग किया होता है उसे मौत के समय शान्ति मिलती है। सन्तोष होता है। जिन्होंने व्यर्थ ही अपने जीवन धन को लुटा दिया, दुरुपयोग किया उन्हें घोर पश्चाताप, असन्तोष की आग में जलना पड़ता है और देखा जाता है कि इस तरह के लोग मरते समय बड़ी मानसिक यन्त्रणा, कष्ट-का अनुभव करते हैं। मरने में बड़ा लम्बा समय लेते हैं। इसी तरह जो लोग पहले से ही अपने आपको मृत्यु के लिए तैयार न करके वस्तु पदार्थों के गोरखधन्धे, संग्रह आदि में ही लगे रहते हैं उन्हें अपना सब कुछ जुटाया हुआ सामान जब छोड़ना पड़ता है खाली हाथ जाना पड़ता है तो बड़ा मानसिक कष्ट होने लगता है। संसार और यहाँ के वस्तु पदार्थों में उनकी आसक्ति उन्हें बड़ा कष्ट देती है।

जीवन एक कहानी है मृत्यु उसका परिणाम। जीवन एक प्रश्न है तो मृत्यु उसका उत्तर। जीवन एक यात्रा है तो मृत्यु साँझ। दोनों का अनन्य साथ है। लेकिन गौरव पूर्ण मृत्यु प्राप्त करना जीवन की सफलता का प्रमाण है और यह जीवन भर तैयारी करने पर ही निर्भर करती है।

हमारा जीवन मृत्यु की तैयारी का अवसर है। आवश्यकता इस बात की है कि मृत्यु को याद रखते हुए हम अपने कार्य को याद रखते हुए अपने कार्यक्रम निर्धारित करें। योजनायें बनायें। यह भी निर्विवाद सत्य है कि मृत्यु का गौरवपूर्ण सुखद-शान्तिमय स्पर्श तभी प्राप्त होता है जब हम स्व: को भूलकर परमार्थ के लिए जीवन लगा देते हैं। किसी महान् सत्य की साधना में, जन सेवा में, परमार्थ में, जीवन लगा देने पर ही मौत के आनन्ददायी क्षण प्राप्त होते हैं मनुष्य को।

अध्यात्म विकृत नहीं—परिष्कृत रूप में ही जी सकेगा

अध्यात्म की तुलना अमृत, पारस और कल्प-वृक्ष से की गई है। इस महान् तत्त्व-ज्ञान के सम्पर्क में आकर मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को—बल और महत्त्व को—पक्ष और प्रयोजन को ठीक तरह समझ लेता है। इस आस्था के आधार पर विनिर्मित कार्य पद्धति को दृढ़तापूर्वक अपनाये रहने पर वह मानव बन जाता है, भले ही सामान्य परिस्थितियों का जीवन जीना पड़े। अध्यात्मवादी की आस्थायें और विचारणायें इतने ऊँचे स्तर की होती हैं कि उनके निवास-स्थान अन्त:करण में अमृत का निर्झर झरने जैसा आनन्द और उल्लास हर घड़ी उपलब्ध होता रहता है।

अध्यात्म निस्संदेह पारसमणि है। जिसने उसे छुआ वह लोहे से सोना हो गया। गुण, कर्म और स्वभाव में महत्तम उत्कृष्टता भरना अध्यात्म का प्रधान प्रतिफल है। जिसकी आन्तरिक महानता विकसित होगी, उसकी बाह्य प्रतिभा का प्रखर होना नितान्त स्वाभाविक है और प्रखर प्रतिभा जहाँ कहीं भी होगी, वहाँ सफलतायें और समृद्धियाँ हाथ बाँधे सामने खड़ी दिखाई देंगी। लघु को महान् बनाने की सामर्थ्य और किसी में नहीं, केवल अन्तरङ्ग की महत्ता, गुण-

कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता में है। इसी को अध्यात्म उगाता बढ़ाता और सँभालता है, फलस्वरूप उसे पारस कहने में किसी को कोई आपत्ति नहीं, अध्यात्म अमृत ही नहीं, पारस भी है। उसे पाकर अन्तरङ्ग ही हर्षोल्लास में निमग्न नहीं रहता, बहिरङ्ग जीवन भी स्वर्ग जैसी आभा से दीप्तिमान होता है। इतिहास का पन्ना-पन्ना इस प्रतिपादन से भरा पड़ा है कि इस तत्त्व-ज्ञान को अपनाकर कितने कलुषित और कुरूप लौह-खण्ड स्वर्ण जैसे बहुमूल्य, महान्, अग्रिणी एवं प्रकाशवान् बनने में सफल हुए हैं।

कल्पना की ललक और लचक ही मानव-जीवन का सबसे बड़ा आकर्षण है। कल्पना लोक में उड़ने और उड़ाने वाले ही कलाकार कहलाते हैं। सरसता नाम की जो अनुभूतियाँ हमें तरंगित, आकर्षित एवं उल्लसित करती हैं, उसका निवास कल्पना क्षेत्र में ही है। भावनाओं में ही आनन्द का उद्‌गम है। आहार, निद्रा से लेकर इन्द्रिय तृप्ति तक की सामान्य शारीरिक क्रियायें भी मनोरम तब लगती हैं, जब उनके साथ सुव्यवस्थित भाव कल्पना का तारतम्य जुड़ा हो, अन्यथा वे नीरस एवं भार रूप क्रिया-कलाप मात्र बनकर रह जाती हैं। उच्च कल्पनायें अभाव-ग्रस्त, असमर्थ जीवन में भी आशायें और उमंगें संचारित करती रहती हैं। संसार में जितना शरीर सम्पर्क से उत्पन्न सुख है, उससे लाख-करोड़ गुना कल्पना, विचारणा एवं भावना पर अवलम्बित है। उस दिव्य संस्थान को सुव्यवस्थित करने और परिस्थितियों के साथ ठीक तरह ताल-मेल मिला लेने की पद्धति का नाम अध्यात्म है। इसलिए उसे कल्प-वृक्ष भी कहते हैं।

कल्पनाओं को क्रमबद्ध रूप से उठाना और परिष्कृत दिशा में गतिशील रखना मात्र अध्यात्म तत्त्व-ज्ञान का काम है। अन्यथा वे अस्त-व्यस्त दिशाओं में बिखर कर जी का जंजाल बनती हैं और

अकारण शोक-संताप का कारण बनती हैं। वासना और तृष्णा की आग में सारा संसार जल रहा है, असन्तोष और उद्वेग ने मनःक्षेत्र में श्मशान जैसी वीभत्स परिस्थिति उत्पन्न कर रखी है—संसार अभावों से इतना दुःखी नहीं, जितना उद्वेगों से। इसका वास्तविक कारण कुछ भी नहीं—कल्पना तत्त्व की विकृत अवस्था ही हमें नरक की आग में निरन्तर जलाती-झुलसाती चली जाती है। इस स्थिति को बदल कर परिष्कृत कल्पनाओं के मंगल-लोक में पहुँचाने की क्षमता अध्यात्म में ही सन्निहित है, इसलिए उसे कल्पवृक्ष कहा जाता है।

अलंकारिक रूप से कल्प-वृक्ष उस पेड़ का नाम है, जिसके नीचे बैठकर हर कल्पना, कामना को पूर्ण करने का अवसर मिल जाता है। मोटे अर्थ में जैसा कि कल्प-वृक्ष को समझा जाता है, यदि उस तरह का अस्तित्व कहीं रहा होता तो सारे संसार की तबाही उत्पन्न हो जाती। सामान्य मनुष्य वासना, तृष्णा, द्वेष, दुर्भाव, लोभ-मोह का पुतला होता है और वे लिप्साएँ ऐसी हैं, जो कभी तृप्त नहीं होतीं। जितना मिलता जाता है, उतनी ही बढ़ती जाती है। यदि कथित कल्प-वृक्ष कहीं होता और ओछा मनुष्य कुछ घण्टे के लिए भी उसके नीचे बैठ जाता तो सारी विश्व वसुधा को अपनी मुट्ठी में करके सबका सुख, सौभाग्य छीन लेता और स्वयं निरंकुश स्वेच्छाचार बरतता। इसी से इस पृथ्वी पर कल्प-वृक्ष नहीं है और सामान्य मनुष्य उसका लाभ नहीं ले सकते। वह स्वर्ग में बताया गया है, जहाँ देवता रहते हैं। देवताओं की कल्पनायें, भावनायें उत्कृष्ट स्तर की होती है, वे अपने लिए कुछ नहीं—दूसरों के लिए सब कुछ चाहते हैं। इसलिए उनकी कामना पूर्ति सबके लिए श्रेय और संतोष उत्पन्न करने का कारण बनती है। ऐसे ही लोगों के बीच कल्प-वृक्ष की कुछ उपयोगिता भी थी, सो ईश्वर ने ठीक ही उसे यथा स्थान आरोपित किया है।

पृथ्वी का कल्पवृक्ष-अध्यात्म है। उसकी छाया में बैठने पर अनावश्यक-अवांछनीय-अनुपयुक्त, कल्पनायें स्वयमेव तिरोहित हो जाती हैं। जो उचित, उत्तम एवं उपयुक्त है वे ही शेष रह जाती हैं। उनकी पूर्ति के लिए आवश्यक पुरुषार्थ करने की तत्परता अध्यात्मवादी में उत्पन्न होती है, तदनुसार वह अभीष्ट मनोरथ सरलतापूर्वक ग्रहण करता चला जाता है। बाधा केवल अवांछनीय लोभ-मोह की पूर्ति में आती है। सरल-सौम्य और शुभ कल्पनायें संयम, सेवा और सज्जनता से ओत-प्रोत सद्भावनायें हर परिस्थिति में हर मनुष्य तृप्त करता रह सकता है। अध्यात्म निस्संदेह कल्प-वृक्ष है, वह जिस अन्तःकरण में उगेगा, वहाँ न अवांछनीय कल्पनायें उगेंगी और न उनकी पूर्ति में बाधा उत्पन्न होने से असन्तोष उत्पन्न होगा। अध्यात्मवादी व्यक्ति सदा सब परिस्थितियों में अपनी आन्तरिक उत्कृष्टता के कारण हँसता, मुस्कराता, तृप्त और सन्तुष्ट देखा जा सकता है। कल्प-वृक्ष का यही तो प्रतिफल होना चाहिए, सो अध्यात्म मार्ग पर चलने वाला कोई भी, कभी भी, यह लाभ परिपूर्ण मात्रा में ले सकता है।

पुरुष को पुरुषोत्तम, आत्मा को परमात्मा, नर को नारायण और लघु को महान् बनाने की विद्या का नाम अध्यात्म है। धन, बुद्धि और बल पाकर लोक में 'बड़े आदमी' बन सकते हैं पर महापुरुष बनाने का श्रेय केवल आत्मबल सम्पन्न को मिलता है। बड़े आदमी अपने शरीर परिवार को सुख सामग्री से सुसज्जित कर सकते हैं और अपने आकर्षण आतंक से सम्पर्क में आने वालों को प्रभावित कर सकते हैं। यह प्रभाव अस्थिर स्वल्प और सीमित है। साथ ही भय, ईर्ष्या-द्वेष और आक्रमण की आशंका से घिरा हुआ भी है। पर महापुरुष का मार्ग निर्बाध है। उनकी आन्तरिक विभूतियाँ इतनी स्थिर और प्रकाशवान होती हैं कि चिरकाल तक दूरवर्ती लोगों तक उनका उत्कर्षप्रद प्रकाश पहुँचता रहता है। अपने को तो असीम शान्ति एवं तृप्ति मिलती ही है।

महापुरुष स्वयं धन्य बनते हैं और चन्दन वृक्ष की तरह अपनी सुगन्ध से समीपवर्ती सारे वातावरण को सुगन्धित कर देते हैं। दीपक की तरह वे स्वयं प्रकाशवान् होते हैं और अपने समीपवर्ती क्षेत्र का अन्धकार दूर कर वहाँ दूसरों की आँखें सार्थक बनाने वाली रोशनी उत्पन्न करते हैं। बड़प्पन की इच्छा ओछे व्यक्ति करते हैं पर जिनका दृष्टिकोण विशाल है, उन्हें महापुरुष बनने की ही आकांक्षा रहती है और अध्यात्मवादी आस्थायें उन्हें उस लक्ष्य तक सफलता एवं सरलतापूर्वक पहुँचा भी देती है। बड़प्पन अगणित उलझनें लेकर आता है, किन्तु महानता से सारी गुत्थियाँ सुलझती हैं। बड़प्पन में विकृतियों की आशंका पग-पग पर विद्यमान हैं पर महानता का पथ निर्द्वन्द्व है। इसी से दूरदर्शी लोग बड़प्पन को तिलाञ्जलि देकर महानता का अवलम्बन लेते हैं और मनुष्य जीवन की सार्थकता का आनन्द लेते हैं। अध्यात्म ही जीवन लक्ष्य की पूर्ति का एक मात्र आधार है, जिसने इसे प्राप्त कर लिया वही बाह्य और अन्तरङ्ग जीवन में सुख-शाँति से ओत-प्रोत होने का सौभाग्य प्राप्त करने में सफल हो सका है।

भारत की एकमात्र विशालता एवं सम्पदा उसकी अध्यात्मवादी आस्था ही रही है। इसी से उसे 'पृथ्वी का स्वर्ग' और देवताओं का निवास-स्थल कहलाने का सौभाग्य प्रदान किया और समस्त संसार के सामने हर क्षेत्र में हर दृष्टि से सम्मानित अग्रिणी बना रहा। जहाँ आन्तरिक उत्कृष्टता होगी, वहाँ बाह्य सामर्थ्य एवं समृद्धि की कमी रह ही नहीं सकती। यही विशेषतायें हमें समस्त विश्व का मार्ग-दर्शन करने एवं विविध अनुदान दे सकने योग्य बनाये रह सकीं। अपनी इस विशेषता को खोया तो मणिहीन सर्प की तरह खोखले हो गये।

संसार वालों ने अध्यात्म का प्रथम पाठ पढ़ा है और वे साँसारिक उन्नति की दिशा में बहुत आगे बढ़ गये। साहस, पुरुषार्थ, श्रम, तन्मयता, मधुरता, स्वावलम्बन, नियमितता, व्यवस्था, स्वच्छता,

सहयोग जैसे गुण अध्यात्म के प्रथम चरण में आते हैं। इन्हें इस नियम की परिभाषा में अथवा दस लक्षणों में गिना जा सकता है। पाश्चात्य देशों ने उतना भर सीखा है। इन्हीं गुणों से उन्हें शारीरिक, बौद्धिक, आर्थिक, संगठनात्मक एवं वैज्ञानिक उपलब्धियों से भरपूर कर दिया। जो देश कुछ समय पहले तक गई-गुजरी स्थिति में पड़े थे, उन्होंने अध्यात्म का प्रथम चरण सद्‌गुणों के रूप में अपनाया और आश्चर्यजनक भौतिक उन्नति कर सकने में सफल हो गये। यदि वे दूसरे चरण उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता की भूमिका में प्रवेश कर सके होते, अध्यात्मवाद का अगला चरण भी बढ़ा सके होते तो उनकी भी वही महानता विकसित हुई होती, जो कभी इस भारत भूमि के निवासी महामानवों में निरन्तर प्रस्फुटित होती थी।

हम हर दृष्टि से पिछड़ गये। क्यों हम अध्यात्म के पथ पर एक चरण भी आगे न बढ़ा सके। यों इस देश में धर्म और अध्यात्म का आडम्बर आकाश को छूने जैसा बढ़ता चला जाता है पर यह रामलीला में खड़े किये जाने वाले विशाल- काय कागज और बांस की खपच्चियों से बनाये गये रावण की तरह है। जो देखने भर के लिये बड़ा है, भीतर उसके खोखलापन भरा हुआ है।

प्राचीनकाल में थोड़े से ऋषि थे, उनके प्रभाव से सारा देश ही नहीं सारा विश्व प्रभावित हुआ था। सभी लोग बच्चों का शिक्षण और विकास उन्हीं की छाया में कराते थे, ताकि वे प्रखर व्यक्तित्व से सुसम्पन्न बन सकें। उनका परामर्श और निर्देश राजा-प्रजा सभी को मान्य होता था। उनका पुरुषार्थ और कर्तृत्व समाज के हर वर्ग और हर पहलू को प्रभावित करता था। आशा भी यही की जा सकती है। जब आरोग्यवान्, विद्वान और धनवान् लोग असंख्यों को प्रभावित करते हैं तो कोई कारण नहीं इन सब सम्पन्नताओं से लाखों करोड़ों गुनी शक्तिशाली क्षमता को पाकर स्वयं प्रकाशवान न हों और असंख्यों को प्रकाशित न करें? प्राचीनकाल के गृहस्थ और विरक्त अध्यात्मवादियों के ऊँचे स्तर इस वास्तविकता के प्रमाण भी हैं।

आज की परिस्थिति सर्वत्र विचित्र है, धर्म का कलेवर ओढ़े ५६ लाख सन्त–महात्मा इस देश में मौजूद हैं। पंडित पुरोहितों, धर्मोपदेशकों, कथावाचकों, कीर्तनकारों की संख्या भी लगभग इतनी है। इस प्रकार ५० करोड़ की जनसंख्या वाले इस देश में हर पचास व्यक्ति के पीछे एक व्यक्ति धर्म और अध्यात्म के नाम पर अपना समय पूर्ण करता और निर्वाह चलाता है। यह विशाल जन–समूह यदि वस्तुतः अध्यात्म के तत्त्व–ज्ञान से परिचित रहा होता तो आज अपना देश न जाने कहाँ की अपेक्षा कहाँ पहुँचा होता। भारत में ७ लाख गाँव हैं। ५६ लाख सन्त। हर गाँव के पीछे ८ सन्त आते हैं और इतने ही पण्डे–पुरोहित। अर्थात् हर गाँव पीछे सोलह व्यक्ति पलते हैं। यदि इन विशाल धर्म ध्वजी जनसमूह के रचनात्मक कार्यक्रम अपना कर लोकमङ्गल के लिये काम किया होता तो देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक शारीरिक, आत्मिक, पारिवारिक, नैतिक स्थिति न जाने कितनी समुन्नत हुई होती और न जाने उसका समस्त संसार पर कितना आशाजनक प्रभाव पड़ा होता।

धर्म स्थलों, धर्म संस्थाओं एवं कर्मकांडों में भारत की गरीब जनता प्रायः ३०० अरब रुपया हर वर्ष व्यय करती है। इतने धन से संसार की ३ अरब जनता को सद्ज्ञान देने और सत्प्रवृत्तियाँ उभारने के लिये हर व्यक्ति के पीछे १०० रुपया व्यय किया जा सकता था, हमारे देश के धर्मध्वजी एक करोड़ लोग ३०० व्यक्तियों को प्रकाश देने में अपना समय लगा रहे होते तो संसार के हर व्यक्ति को हम अपने महान तत्त्वज्ञान से परिचित और प्रभावित करने में सफल हो गये होते और तब संसार की स्थिति आज की अपेक्षा सर्वथा भिन्न ही हुई होती। पर हो सब कुछ प्रतिकूल रहा है। धर्मध्वजी लोग दूसरों को प्रकाश देने की अपेक्षा स्वयं ही दयनीय स्थिति में पड़े हैं और परावलम्बी दीन–हीन जीवन जी रहे हैं। स्थिति को बारीकी से देखने वाला यही सोचता है कि प्रस्तुत अध्यात्मवाद निरुपयोगी एवं निरर्थक है।

नई पीढ़ी में आस्तिकता एवं धार्मिकता के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह गया है, इस स्थिति का उत्तरदायित्व इन महान् अवस्थाओं के उस विकृत स्वरूप का है, जिसने परीक्षा की कसौटी पर अपनी निरर्थकता सिद्ध कर दी है। अब प्रगतिशीलता का अर्थ धर्म और अध्यात्म के प्रति अनास्थावान् होना भी बनता चला जाता है।

अध्यात्म का तत्व-ज्ञान मनुष्य को आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता की विचारणा से ओत-प्रोत भावनाओं से विभोर एवं प्रक्रिया से तत्पर बनाये रखने वाला दार्शनिक अवलम्बन है। हम ईश्वर के सत्‌चित आनन्द स्वरूप अविनाशी अङ्ग हैं, अस्तु अपनी महानता को अक्षुण्य बनाये रखें। मानव-जीवन महान् प्रयोजन के लिए चिरकाल उपरान्त मिला है, उसका उपयोग उच्च प्रयोजनों के लिये करें। ईश्वर सर्वव्यापी, निष्पक्ष एवं न्यायकारी है,उसके दण्ड एवं कोप से बचने के लिये दुर्भावनाएँ एवं दुष्प्रवृत्तियाँ त्यागें। समस्त प्राणी ईश्वर के पुत्र और अपने भाई हैं, इसलिए उनके साथ सद्‌व्यवहार करें। अपने पाशविक कुसंस्कारों को हटाने के लिये संघर्ष, साधना, तितीक्षा, संयम एवं तपश्चर्या का अभ्यास करें। फैली हुई दुष्प्रवृत्तियों को हटाने का पुरुषार्थ कर अपने आत्मबल को विकसित करें। आदर्श जीवन जीकर दूसरों के लिये प्रकाश प्रदान करने वाले उज्ज्वल नक्षत्र सिद्ध हों। उन विचारों से ओत-प्रोत रहें, जिनसे शांति मिले। उन कार्यों को अपनायें जिनसे यशस्वी जीवन जीने का अवसर मिले और परलोक में सद्‌गति को प्राप्त हों। ईश्वर की सृष्टि को सुन्दर, सुगन्धित एवं सुसज्जित बनाने की सेवा साधना में संलग्र रहकर प्रभु का अनुग्रह प्राप्त करें। हृदय कमल पर भाव भगवान की उच्च-स्तरीय स्थापना करें। अपनी मनोभूमि ऐसी बनायें जिससे सद्‌भावना सम्पन्न सद्‌भक्त कहला सकें। अपने को शरीर नहीं आत्मा समझें और शरीरगत वासना-तृष्णा से ऊँचे उठकर आत्म-कल्याण की गतिविधियाँ अपनायें। काम-क्रोध मोह-मद मत्सर रूपी षट रिपुओं से सावधान रहें। भीतर और बाहर स्वर्गीय वातावरण का सृजन करने के लिए

सद्भावनाओं की रीति-नीति अपनायें। तृष्णा और वासना के बन्धनों से मुक्त होकर संकीर्णता से मुक्ति पायें। आदि आस्थाएँ आध्यात्मिकता की पृष्ठ-भूमि हैं। इन्हीं को हृदयङ्गम कराने के लिये सारा धर्म कलेवर खड़ा किया है। समस्त कर्मकांडों के पीछे इन्हीं आस्थाओं को हृदयङ्गम कराने का मनोवैज्ञानिक उद्देश्य छिपा पड़ा है।

पर आज के प्रचलित तथाकथित अध्यात्म की दिशा बिलकुल उल्टी है। वह व्यक्ति को भावनात्मक उत्कर्ष की ओर उठाने की अपेक्षा पतनोन्मुख बनाने में सहायक हो रहा है। भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिये तीर्थ स्नान, देव-दर्शन, भजन कीर्तन आदि के कर्मकाण्ड ही पर्याप्त मान लिये गये हैं, लोगों ने यह सोचना छोड़ दिया है कि इन कर्मकांडों का उद्देश्य भगवान की न्यायकारी सर्वव्यापक सत्ता का हर घड़ी स्मरण दिलाते रहना मात्र है। इस स्मरण का प्रयोजन यह है कि व्यक्ति सब में ईश्वर की झाँकी करके हर किसी से सद्व्यवहार में निरत रहें। न्यायकारी के न्याय से डरें और कुछ करके फलभोग से बच जाने की बात न सोचें। यदि देव-दर्शन, भजन कीर्तन आदि के द्वारा उपर्युक्त सदाचरण एवं परमार्थ की भावना उदय हो तो ही इन कर्मकांडों का महत्त्व है। अन्यथा प्रशंसा करके या प्रसाद खिलाकर परमेश्वर के वरदान, आशीर्वाद की ललक एक भ्रम भरी विडम्बना ही कही जायेगी।

भाग्यवाद एवं ईश्वर की इच्छा से सब कुछ होता है जैसी मान्यतायें विपत्ति में असन्तुलित न होने एवं सम्पत्ति में अहंकारी न होने के लिये एक मानसिक उपचार मात्र हैं। हर समय इन मान्यताओं का उपयोग अध्यात्म की आड़ में करने से तो व्यक्ति कायर, अकर्मण्य और निरुत्साही हो जाता है। सोचता है, अपने करने से क्या होगा, जो भाग्य में होगा, ईश्वर की इच्छा होगी वही होगा। पुरुषार्थ की दौड़-धूप करने से क्या लाभ? इस प्रकार की मान्यता वाले की प्रगति का क्रम समाप्त हो गया ही समझना चाहिए। आक्रमणकारियों, शोषकों और अत्याचारियों ने उपर्युक्त मान्यता अपने समय के भ्रष्ट धर्मध्वजियों

द्वारा रिश्वतें देकर इसलिए चलाई कि शोषित वर्ग उनके अन्याय से लड़ने खड़ा न हो जाय और उन अन्यायों को ईश्वर की इच्छा तथा भाग्य का खेल मानकर चुप बैठा रहे।

संसार को स्वप्न, माया, बंधन, भवसागर कहकर पारिवारिक तथा सामाजिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा करने एवं भिक्षाजीवी निरर्थक जीवन बिताने की पलायनवादी मान्यता अध्यात्म के साथ जब से जुड़ी तब से साधु-ब्राह्मणों और वानप्रस्थों का अति महत्वपूर्ण लोक-सेवी वर्ग मिथ्या आडम्बरों में फँसकर तरह-तरह की भ्रांतियाँ फैलाने लगा, समाज के लिये भारभूत बन गया। उपर्युक्त मान्यताएँ केवल वासना तृष्णा को निरर्थक बताने के लिये थीं पर उनकी व्याख्या उलटी की गई और व्यक्ति समाज से विमुख होकर संकीर्ण स्वार्थपरता के दायरे में—स्वर्ग मुक्ति और सिद्धियाँ प्राप्त करने की बात सोचने लगा फलतः अध्यात्मवाद की उपयोगिता अनुपयोगिता में बदल गई।

देव शक्तियों से लोग अपने में देवत्व के अवतरण की माँग करते, उनकी विशेषताओं, प्रेरणाओं एवं महानताओं को अपने में जाग्रत करते की आशा रखते तो देव-पूजन का प्रयोजन सिद्ध होता। पर अब तो लोग देवपूजन इस शर्त पर करते हैं कि हमारी अमुक मनोकामना बिना पुरुषार्थ किये अथवा योग्यता उत्पन्न किये ही देव कृपा से अनायास ही पूरी हो जाय। आमतौर से लोग धन, स्वास्थ्य, विवाह, पुत्र, परीक्षा में उत्तीर्ण, नौकरी, शत्रु नाश, विपत्ति निवारण जैसी मनौतियाँ देवता से माँगते हैं और इसके लिये रिश्वत के रूप में कुछ पूजा-पत्री अर्पित करते हैं। इस विकृति का परिणाम यह हुआ कि लोग अपनी योग्यता बढ़ाने एवं पुरुषार्थ करने में जो प्रयत्न करते उन्हें छोड़कर परावलम्बी होते चले गये और उन्हें दीन-दरिद्र रहना पड़ा। उलटी और विकृत मान्यतायें किसी को कुछ लाभ नहीं दे सकतीं, केवल दुर्बलता और हानि ही प्रस्तुत कर सकती हैं।

अध्यात्म का तात्पर्य है आत्मा की परिधि-का विस्तार। अपने अहम् को—स्वार्थपरता की संकीर्ण परिधि को—विश्व-मानव

के लिये—परमात्मा के लिये उत्सर्ग कर देना यही आत्मिक प्रगति का चिन्ह है। अनादिकाल से यही परम्परा चली आ रही है कि जो अपने व्यक्तिगत लोभ-मोह, यश एवं सुख को जिस हद तक विश्व-मंगल के हित में परित्याग करता है, वह उसी सीमा तक परमात्मा के सान्निध्य में पहुँचा माना जाता है। यह मान्यता हर अध्यात्मवादी को समाज के लिये अधिक उपयोगी एवं उपकारी बनाकर सर्वजनीन सुख-शांति का अभिवर्द्धन करती थी, पर अब तो ठीक उलटा है। जो जितना स्वार्थी, संकीर्ण, अनुत्तरदायी अकर्मण्य है, वह उतना ही त्यागी तपस्वी है। सबके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझकर—आत्म-सुख लोक मंगल में घुला देने की प्रवृत्ति अब अध्यात्मवादियों में दिखाई नहीं पड़ती वरन लोग अपनी भौतिक सुख-सुविधाओं की अभिवृद्धि के लिये ईश्वरीय सहायता की याचना कामना किया करते हैं और उसी तराजू पर दैवी कृपा या अकृपा का—अपनी पूजा-पत्री की सफलता, असफलता का—मूल्यांकन करते हैं। फलस्वरूप अब अध्यात्म व्यक्तिवाद का पोषक बनता जाता है और ऋद्धि-सिद्धियों से लेकर स्वर्गमुक्ति तक स्तर के स्वार्थों की पूर्ति के लिए लिप्सायें उत्पन्न करता है। यह स्तर बदला न गया तो तत्त्व-ज्ञान का महान दर्शन मानव जाति के लिये और अधिक विपत्ति उत्पन्न करने वाला बनता चला जायेगा।

पाप से बचने और डरने का शिक्षण देना अध्यात्म का प्रयोजन है। पर जब से यह मान्यता चली है कि अमुक नदी सरोवर में स्नान करने अमुख तीर्थ की यात्रा या अमुक पुस्तक का पाठ करने से पाप फल भोगने से छुटकारा मिल जाता है, तब से लोग पाप से डरने की आवश्यकता अनुभव नहीं करते। सोचते हैं जब थोड़ा-सा व्यय करके पाप फल से बचा देने वाले कर्मकाण्ड करके दुष्कर्मों के दंड से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है तो फिर कुकर्मों का आकर्षण और लाभ, लोभ क्यों छोड़ा जाय? पाप के दंड से बचने की मान्यता केवल अनैतिकता का ही अभिवर्धन करेगी और उससे अनाचार एवं विग्रह, विक्षोभ ही बढ़ेगा।

किसी वर्ग विशेष को दान दक्षिणा देने और उसी को ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर यह सोचना कि उन्हें जो दिया जायेगा वही पुण्य कहलायेगा, एक अविवेकपूर्ण भ्रांति है। ईश्वर के सभी पुत्र समान हैं, वह अधिक प्यार केवल अधिक संयमी और अधिक सेवा-भावी को कर सकता है। वंश के आधार पर कोई उसका प्रतिनिधि नहीं हो सकता। ब्राह्मण को ही दान देने की मान्यता ने समाज के उपयोगी कार्य में प्रयुक्त होने वाली उदारता को रोककर निहित स्वार्थी को मुफ्तखोर बनने और गुल-छर्रे उड़ाने का द्वार खोल दिया। इससे समाज की उपयोगी प्रवृत्तियों को पोषण न मिलने पर सूख जाना पड़ा और निठल्ले लोग मसखरी करके उस उदारता एवं दान प्रवृत्ति को निरस्त करते चले गये और उसका दुष्परिणाम सारे समाज को भोगना पड़ा।

अध्यात्म दर्शन में उत्पन्न हुई विकृतियों ने हमारा मानसिक और सामाजिक ढांचा चरमरा कर रख दिया है। विद्या, सदाचार लोक सेवा और उदात्त मनोभूमि के कारण पूजे जाने वाले साधु-ब्राह्मण जब वंश और वेष के आधार पर पूजा प्रतिष्ठा प्राप्त करने लगे तो उन महान् गुणों की ओर ध्यान देना ही बन्द हो गया। ओछे लोग जहाँ भी पूजे जायेंगे, वहाँ विकृतियाँ ही बढ़ेगी, कर्म के आधार पर आरम्भ हुआ वर्णाश्रम धर्म वंश पर अवलम्बित हो गया और उसमें नीच-ऊंच का भेद भाव घुस गया तो ब्राह्मण दुर्गुणी होने पर भी पूजा जाने लगा और शूद्र सद्गुणी होने पर भी दुत्कारा जाने लगा। जहाँ गुणों का वर्चस्व समाप्त हो जाय और अकारण ही लोगों को मान या अपमान मिलने लगे तो वह समाज अपनों की और दूसरों की दृष्टि में अध:पतित होगा ही। झूठी मान्यताओं ने एक ओर तथाकथित उच्चवर्ग को अनावश्यक सम्पत्ति देकर उन्हें दान-दक्षिणा की मुफ्तखोरी का चस्का लगाया, दूसरी ओर तथाकथित नीच वर्ग को मानवता के न्यायोचित अधिकारों से भी वंचित करके अछूत बना दिया। इसी तिरस्कृत वर्ग का एक बड़ा भाग विधर्मी होता चला गया और हिन्दू समाज से प्रतिशोध लेने के लिए पिल पड़ा। अपनी सामाजिक

दुर्बलता का यह एक बहुत बड़ा कारण है।

नारी जाति को अविश्वस्त प्रतिबन्धित, बन्दिनी और रमणी की दुर्दशा में धकेल देने वाली संकीर्ण विचारधारा हमारी धर्म की आड़ में न जाने से वह कटीली झाड़ियों की तरह उठ आई और आधे समाज को लकवा के रोगी की तरह अपंग करके रख दिया। विवाह शादियों में धर्म के नाम पर इतना अपव्यय करने को मजबूर होना पड़ा कि व्यक्ति को बेईमान और दरिद्र बनने के अतिरिक्त और कोई चारा न रह गया। मरने के बाद उसके कुटुम्बी लम्बी चौड़ी दावत देकर मृतक भोज करें, यह कैसी घृणित और दयनीय प्रथा है। भूत पलीत, कुटुम्ब-कुटुम्ब और गाँव-गाँव के अगणित देवता लोगों का मनोबल दुर्बल करने, आतंक उत्पन्न करने और अपव्यय कराने के लिए धर्म की आड़ में ही उगे हैं। अपनी कुरीतियों का अंत नहीं। और यह एक तथ्य है कि कुरीतियों के साथ अनैतिकता का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। आज के विकृत धर्म ने हमें अन्ध-विश्वासी ही नहीं अनैतिक एवं दीन, दरिद्र भी बना दिया।

इस दयनीय दुर्दशा से अब निकलना ही होगा और दार्शनिक विकृतियों से पिण्ड छुड़ाने के लिये आगे बढ़ना ही होगा। अन्यथा हमारी दुर्दशा ग्रस्त मनोदशा व्यक्ति एवं समाज का स्तर दिन-दिन गिराती और बिगाड़ती ही चलेगी और इस पतनोन्मुख पथ पर चलते हुये अन्ततः हम कहीं के भी न रहेंगे। पूर्वकाल में हम ३० करोड़ व्यक्ति इसी दार्शनिक भ्रष्टता के शिकार होकर १५ हजार विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा पद-दलित होकर एक हजार वर्ष तक गुलामी के बन्धनों में बँधे रहे हैं। अब भी यदि इन्हीं विकृतियों को छाती से चिपकाये बैठै रहे तो अगले दिनों हमारे दुर्भाग्य का ठिकाना न रहेगा।

ओछा तत्त्व-दर्शन अपनाये रहने वाला व्यक्ति और समाज कभी भी ऊँचा नहीं उठ सकता। दर्शन ही प्रेरणाओं का आधार है। उसी के अनुरूप विचारणायें, आकांक्षायें और क्रियायें उत्पन्न होती

हैं। दर्शन ही व्यक्ति को ढालता है और उसी ढाँचे में समाज का कलेवर खड़ा होता है। हम अपने समाज और संसार को समर्थ समृद्ध और सुविकसित बनाना चाहते हों तो उसका सर्व प्रमुख उपाय यही है कि वर्तमान दार्शनिक विकृतियों का परिशोधन किया जाय।

यदि इस स्थिति को सुधारा, संभाला और बदला न गया तो भावी परिस्थितियाँ दिन-दिन अधिक भयावह होती चली जायेंगी। वैयक्तिक जीवन में आदर्शवादिता और उत्कृष्टता उत्पन्न करने वाला जब प्रकाश ही बुझ जायेगा तो अन्धकार में भटकने वाला दुर्दशा ग्रस्त ही होगा। लोग बुराई की ओर बढ़ेंगे और बुरी परिस्थितियाँ पैदा करेंगे। इससे सर्वत्र दुर्गन्ध और दुर्गति ही दृष्टिगोचर होगी। और हम सब पारस्परिक विद्वेष असहयोग एवं छल-छद्म की आग में जलकर सामूहिक आत्म-हत्या कर लेंगे।

आज की महत्तम आवश्यकता यह है कि हमारा तत्त्वज्ञान और दर्शन अपने सौम्य पथ से भ्रष्ट होकर जिस अवांछनीय दिशा में चल पड़ा है, उसे रोका और टोका जाय। दिग्-भ्रांत जन मानस को वस्तुस्थिति से परिचित कराया जाय और अध्यात्म के महान स्वरूप, उपयोग एवं प्रतिफल से भलीभाँति परिचित कराया जाय। आत्मा की आकाँक्षा पूर्णता के लक्ष्य पर बढ़ने के लिए स्वभावतः उल्लसित होती रहती है, यदि उसे सही मार्ग मिले तो निस्संदेह उससे व्यक्ति को आत्म-शांति और समाज को समर्थता एवं सम्पन्नता का लाभ मिल सकता है। पर जब उसे बहका-भटका दिया जाय तो फिर विपथ गामिनी धारा विग्रह एवं अवांछनीय परिस्थितियाँ ही उत्पन्न करेंगी। अस्तु हम अपना सारा प्रयत्न इस तथ्य पर केन्द्रित करें कि जनमानस की आस्थाओं, मान्यताओं दिशाओं एवं गतिविधियों को प्रभावित करने वाली अध्यात्म पथ भ्रष्टता से विरत होकर उस दिशा में चलें, जिस पर लाखों करोड़ों वर्षों तक हमारे पूर्वज चलते और गौरवान्वित होते आये हैं।

चिन्तन की दिशा बदलना ही युग परिवर्तन है। परिवर्तन का केन्द्र बिन्दु चिन्तन ही है। चिन्तन की बदली हुई दिशायें ही व्यक्ति को विविध विधि भली-बुरी गतिविधियाँ अपनाने के लिये प्रेरित एवं प्रस्तुत करती हैं। निकृष्ट चिन्तन व्यक्ति को दुष्ट, दुराचारी, पतित, पिशाच, उच्छृङ्खल एवं अवाँछनीय स्तर का बना सकता है और यदि चिन्तन की धारा उत्कृष्टता की ओर मुड़ जाय तो वही व्यक्ति सन्त,सज्जन, महान, विचारवान, विद्वान एवं परमार्थ परायण बनकर देवत्व की भूमिका सम्पादन कर सकता है।

अशुद्ध चिन्तन मनुष्य को लोभी, स्वार्थी, कृपण, शोषक तथा संग्रही बनाता है, यदि वह अशुद्ध, शुद्ध हो जाय तो वही व्यक्ति अपनी सम्पदा एवं विभूति को लोक मंगल के लिये उत्सर्ग करके अपना जीवन धन्य बनाने तथा दूसरों को आदर्शवादी प्रेरणायें देने में समर्थ हो सकता है। व्यक्ति तथा समाज का हित अनहित वर्तमान और भविष्य उनकी आस्थाओं तथा चिन्तन की धाराओं पर निर्भर है। हमें इसी मर्मस्थल का स्पर्श करना चाहिये और उन उपायों को खोज निकालना चाहिये कि समग्र चिन्तन की—अध्यात्म की धारा सत्पथगामिनी बनकर विश्व-मंगल की सम्भावनायें मूर्तिमान कर सके।

विवेकवान दूरदर्शी और प्रबुद्ध वर्ग के समस्त प्रयास उसी दिशा में केन्द्रीभूत होने चाहिये कि जनमानस का प्रवाहित होने वाला समग्र चिन्तन अध्यात्म वर्तमान निकृष्ट स्तर से ऊँचे उठे तथा उत्कृष्टता की आस्थाओं से अनुप्राणित रह सके। इसी एक प्रक्रिया पर मानव-जाति का भविष्य निर्भर है। सुख-सुविधाएँ बढ़ाने के लिये बहुत कुछ किया जाता रहा है, किन्तु चिन्तन न बदला तो विज्ञान तथा धन द्वारा उपलब्ध हो सकने वाली विपुल सुविधाएँ भी हमें सुख-शांति से वंचित ही करती रहेंगी। अंतरङ्ग में जलने वाली दुर्बुद्धि की आग शाँति और सुव्यवस्था को भस्म करके ही छोड़ेगी।

हमारा ज्ञान-यज्ञ इसी महान प्रयोजन की पूर्ति के लिये है। इसकी सफलता, असफलता पर भावी शांति अथवा विपत्ति की

सम्भावनाएँ जुड़ी हुई हैं। प्रबुद्ध परिजनों का कर्त्तव्य है कि वे इस महान अभियान को सर्वाङ्गीण सफलता की ओर अग्रसर करने में अपना योगदान देने में कुछ उठा न रखें।

प्रगति और सफलता के लिए समर्थ सहयोग की आवश्यकता

गुरु शिष्य की भूमिका को उन्होंने अध्यात्म मार्ग का सघन सहयोग बताया। जहाँ शिष्य समर्थ गुरु की सहायता से आगे बढ़ता है वहाँ गुरु भी अपने ऋण से उऋण होता है।

पारस्परिक सहयोग की अविच्छिन्न प्रक्रिया विकास का ही नहीं आनन्द का भी आधार है। भौतिक जगत में पग-पग पर इस तथ्य को अनुभव किया जा सकता है। परमाणु जिसे सबसे छोटी इकाई माना जाता है एकाकी नहीं है वरन् न्यूट्रोन, प्रोटोन आदि अपने सहयोगियों के आधार पर सृष्टि का क्रिया कलाप संचालित किये रह सकने में समर्थ होता है। आकाश में ग्रह नक्षत्र पारस्परिक आकर्षण में जकड़े रहने के कारण ही आकाश में अधर लटके हुए हैं। पंच तत्त्वों का सम्मिश्रण यदि न हो तो इस विश्व का अस्तित्व ही प्रकाश में न आये। हर कोई जानता है कि विवाह बन्धन के साथ कितने उत्तरदायित्व, बन्धन और कर्त्तव्य जुड़े हुए हैं। उन्हें निबाहते-निबाहते आदमी का कचूमर निकल जाता है। नारी को प्रसव की विकट पीड़ा; शिशुपालन का कठिनतम कार्य और पति तथा ससुराल वालों को प्रसन्न रखने में लगभग आत्म समर्पण जैसी तपस्या करनी पड़ती है। नर को भी कम भार वहन नहीं करना पड़ता। इन कठिनाइयों से परिचित होते हुए भी हर कोई विवाह की आशा लगाए बैठा रहता है और वैसा अवसर आते ही हर्षोल्लास अनुभव करता है। जिन दाम्पत्य जीवन में सघन आत्मीयता विकसित होती है उन्हें वह पारस्परिक

सान्निध्य स्वर्गोपम प्रतीत होता है। अगणित कठिनाइयों को वहन करते हुए भी हर घड़ी आनन्द उमड़ता रहता है यह सब देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि व्यक्तियों की आत्मिक घनिष्टता कितनी तृप्ति और कितनी शाँति प्रदान करती है।

पति-पत्नी का तो ऊपर उदाहरण मात्र दिया गया है। रिश्ते कुछ भी क्यों न हों--पुरुष पुरुष—और नारी नारी के बीच भी ऐसी आन्तरिक सघनता हो सकती है। उस मित्रता को किसी भी रिस्ते का नाम दिया जा सकता है और बिना रिस्ते के केवल आत्मीय माना जा सकता है। यही 'प्रेम' है। प्रकृति के अनुरूप व्यक्तियों से आरम्भ होकर मनुष्य समाज—प्राणि मात्र और तदनन्तर विश्व ब्रह्माण्ड में संव्याप्त जड़ चेतन में प्रेम फैलता विकसित होता चला जाता है। आनन्द का उद्भव और विस्तार यहीं से होता है। अन्तःकरण की कोमलता, मृदुलता, सरलता और सरसता ही वस्तुतः मानव जीवन की सम्पदा हैं, जो स्नेह सिक्त है, जो सहृदय और उदार है उसे ही आत्मिक विभूतियों से सुसम्पन्न सिद्ध पुरुष कहना चाहिए। ऐसा व्यक्ति ही महामानव, देवदूत और दिव्य सत्ता सम्पन्न कहलाता है। आत्मा और परमात्मा का मिलन संयोग जिसे प्राप्त हो गया, समझना चाहिए कि उसने पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त कर लिया। अभाव तो एकाकीपन में ही है।

आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में प्रगति करने के लिए भी यह सहयोग नितान्त आवश्यक है। राम और लक्ष्मण का युग्म ही लंका विजय में समर्थ हुआ है। महाभारत की सफलता कृष्ण और अर्जुन के मिलन ने संभव की थी। छात्र कितना ही परिश्रम करे बिना शिक्षक के मौखिक या लिखित्त ज्ञान दान के बिना उच्च शिक्षा प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता। कला शिल्प विज्ञान, चिकित्सा जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों के विद्यार्थी मात्र मौखिक ही नहीं क्रियात्मक व्यावहारिक शिक्षा ही प्राप्त करते हैं इसके बिना वे विषय में निष्णात पारंगत नहीं हो सकते।

गुरु और शिष्य मिलकर यही प्रयोजन पूर्ण करते हैं। कान में मंत्र फूंक देना या कर्मकाण्ड विधि-विधान बता देने से काम नहीं चल सकता। उन्हें अपनी शक्ति का एक अंश भी देना पड़ता है इस अनुदान के बिना आत्मिक प्रगति के पथ पर बहुत दूर तक नहीं चला जा सकता। पहाड़ों की ऊंची चढ़ाई चढ़ने के लिए लाठी का सहारा लेना पड़ता है। छत पर चढ़ने के लिए सीढ़ी का अवलम्बन चाहिए। यही प्रयोजन आत्मिक प्रगति के पथ पर चलने वाले पथिक के लिये उसका मार्गदर्शक-एवं साथी सहयोगी पूरी करता है। गुरु की आवश्यकता इसी प्रयोजन को पूर्ण करने के लिए पड़ती है।

माता के उदर में रखे बिना, अपना रक्त, मांस दिये बिना, दूध पिलाये और पालन किये बिना भ्रूण की जीवन प्रकिया गतिशील नहीं हो सकती। बालक भोजन, वस्त्र, आदि की सुविधायें स्वयं उपार्जित नहीं कर सकता उसे उसके अभिभावकों की सहायता अभीष्ट होती है। छात्र अपने आप पढ़ तो सकता है पर उसे पुस्तक, फीस आदि का खर्च पिता से और शिक्षण सहयोग अध्यापक से प्राप्त करना पड़ता है। इसके बिना उसका शिक्षा क्रम एकाकी पुरुषार्थ से नहीं चल सकता। माता-पिता अपनी संतान का पालन पोषण करते हैं वे बच्चे बड़े हो जाने पर अपने बच्चों के लालन पालन की जिम्मेदारी उठाते हैं यह क्रमानुगत परंपरा चलती रहती है। अध्यात्म मार्ग की प्रक्रिया भी इसी प्रकार चलती है। गुरु अपने शिष्य को अपनी तप पूँजी प्रदान करता है तदुपरान्त शिष्य भी उसे अपने लिए दाब कर नहीं बैठ जाता वरन् उस परंपरा को अग्रगामी रखते हुए अपने छात्रों की सहायता करता है।

यों धर्म के दस लक्षणों और यम नियम के दस योग आधारों का पालन करते हुए कोई भी व्यक्ति सहज सरल रीति-नीति से जीवन लक्ष्य प्राप्त कर सकता है न इसमें किसी गुरु की आवश्यकता है न शिष्य की, राजमार्ग पर सही पैरों से चल पड़ने वाला व्यक्ति मील के पत्थरों को देखते हुए यथा स्थान पर पहुँच सकता है पर

जिसे उस यात्रा के समीप वर्ती अद्भुत स्थलों को देखना जानना और वहाँ मिलने वाली उपलब्धियों से लाभान्वित होना हो उसे उस क्षेत्र से परिचित और उपलब्ध हो सकने वाली वस्तुओं को देने दिलाने में कुशल किसी अनुभवी सहयोगी की आवश्यकता पड़ती है। यदि यह सुयोग न मिल सके तो फिर यात्रा चलती रहती है पर वह नीरस एवं अतिरिक्त उपलब्धियों से रहित एक गतिशीलता मात्र ही रह जाती है। अध्यात्म पथ में प्रगति करते हुए उस यात्रा से सम्बंधित विभूतियों को प्राप्त करते हुए हर्षोल्लास का आनंद लेते चलना हो तो फिर कुशल सहयोगी की सहायता अनिवार्य ही हो जायेगी। गुरु शिष्य का सम्मिलन, सम्मिश्रण उसी आवश्यकता की पूर्ति करता है।

मेडीकल कालेज में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों में वह सब कुछ लिखा है जो वहाँ पढ़ाया जाता है अथवा डाक्टर बनने के लिये जो जानना चाहिए किन्तु सर्जरी में कोई छात्र तब तक निष्णात नहीं हो सकता जब तक कि उसे उसी तरह की व्यावहारिक शिक्षा— कुशल सर्जन के तत्वावधान में न मिले। यों आपरेशन की सारी प्रणाली चित्रों सहित पुस्तकों में लिखी रहती है फिर भी प्रत्यक्ष पथ प्रदर्शन की आवश्यकता बनी ही रहती है। इंजीनियरिंग, कला, सङ्गीत, युद्ध विद्या, रसायन आदि के बारे में भी यही बात है। ऊंची कक्षाओं की बात छोड़िये बाल कक्षा के बालकों के हाथ सचित्र बाल पोथी थमा देने पर भी वे अक्षर और अङ्क तब तक नहीं याद कर पाते जब तक कि अध्यापक का प्रत्यक्ष सहयोग उन्हें प्राप्त न हो। फिर आत्मिक प्रगति जैसे अप्रत्यक्ष अप्रचलित और दुरूह विषय का प्रशिक्षण तो एकाकी बन ही कैसे पड़ेगा।

श्रद्धा तत्व का विकास करते हुए आत्मिक प्रगत्ति को तीव्र बनाने की दृष्टि से शिष्य का गुरु के प्रति श्रद्धावान और विनम्र होना उचित है। इससे अनुशासन, निष्ठा बनाये और क्रमबद्धता बनाये रहने में सुविधा होती है पर इसमें गुरु के लिये अहंकार करने, अपने को बड़ा मानने या अहसान जताने जैसी कोई बात नहीं है। यह एक

क्रियागत प्रक्रिया है। अभिभावक अपनी सन्तान को सृष्टि के अनादि काल से पालते चले आ रहे हैं। प्रकृति ने हर प्रजनन कर्म के साथ शिशु पालन की प्रवृत्ति भी जोड़कर रखी है। ऐसी दशा में कोई सन्तान को परमार्थ क्यों माने? वह प्रकृति का स्वाभाविक क्रम है जिसे पालन किया ही जाना चाहिये। जो उसे पतित करेगा वह दोषी बनेगा। कोई प्रजनन में तत्पर रहे और फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली सन्तान के प्रति उपेक्षा क्रूरता बरते, उससे विमुख हो जाय तो सामाजिक, राजकीय और ईश्वरीय दण्ड का भागी बनेगा। यही बात गुरु शिष्य के बारे में भी है। जब किसी की सहायता से गुरु को भी कुछ मिला है तो उस क्रम को आगे बढ़ाने के लिये दूसरों की—अपने छात्रों की सहायता पवित्र कर्त्तव्य मानकर करनी चाहिये। इसमें न अहसान जताने की आवश्यकता है न अहङ्कार करने की। सच तो यह है कि यदि कोई छिपाता है और अनुदान में आना कानी करता है तो वह अपनी महानता ही खो बैठता है। शिष्य अपनी पात्रता सिद्ध करे श्रद्धालु और अनुशासित रहे यह उसी के पक्ष में—उसी को लाभान्वित करने वाली अलग बात है।

रामकृष्ण परमहंस बनने के लिये जन्म-जन्मान्तरों की कठोर साधना अभीष्ट है, पर विवेकानन्द बनना सरल है। समुद्र बनना कठिन है, पर उसका पानी लेकर आकाश में बादल की तरह उड़ने लगना सरल है। समर्थ गुरु रामदास बंनने के लिये जन्म की गति कठिन और तलवार की धार पर चलने जैसी साधना करने का साहस सामान्य व्यक्तियों के पास नहीं होता। शिवाजी के रूप में एक नगण्य से व्यक्तित्व वाले बालक को विकसित हो जाना भी सरल है। पारसमणि बनना कठिन है पर लोहे का उसे छूकर सोना बन जाना सरल है। चाणक्य जैसी अग्नि तत्व का प्रतिनिधित्व कर सकने वाली सत्ता बन सकना हर किसी का काम नहीं। पर एक दासी पुत्र का दिग्विजयी सम्राट बनकर सफल होना सरल है। बुद्ध जैसी

प्रतिभाएँ कभी कभी ही—ईश्वरीय इच्छानुसार अवतरित होती हैं पर उनकी छाया से अशोक, आनन्द, अंगुलिमाल, आम्रपाली आदि असंख्य व्यक्ति लघुता की परिधि लाँघते हुए महत्ता का वरण कर सके हैं। गाँधी कभी-कभी ही उत्पन्न हो सकते हैं पर उनका अनुगमन करने वाले व्यक्ति राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री, लोक नेता और ऐतिहासिक महापुरुषों की पंक्ति में अपनी गणना सहज ही करा सकते हैं।

आत्मिक प्रगति की उपलब्धियाँ—भौतिक प्रगति की तुलना में असंख्य गुनी सामर्थ्य सम्पन्न और हर्षोल्लासमय हैं। उन्हें प्राप्त कर सकना मानव जीवन की सबसे बड़ी और सबसे महान सफलता है। जो इस दिशा में बढ़ सका समझना चाहिये हर दृष्टि से कृतकृत्य हो गया। प्रचलित और प्रत्यक्ष मान्यतायें भौतिक सफलताओं को सर्वोपरि मानती हैं पर यदि विवेक युक्त दूरदृष्टि से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि यह मान्यता सही नहीं है। आत्मबल सम्पन्न महामानवों का जीवन विश्लेषण करें—उनके द्वारा उपार्जित आन्तरिक आनन्द और बाह्य अनुदानों का मूल्यांकन करें तो प्रतीत होगा कि संसार का बड़े से बड़ा सुसम्पन्न व्यक्ति भी उस तुलना में अत्यन्त पिछड़ा हुआ है। सम्पन्नता के साथ जुड़े हुए मतिभ्रम और क्लेश कलह द्वेष दुर्भाव को भी समझा जाय तो प्रतीत होगा कि सम्पन्नता जन्य मात्र दृष्टि और कल्पना जंजाल भर है। सुखी बनने के लिए सम्पदाएँ नहीं—विभूतियाँ आवश्यक हैं जो आत्मिक प्रगति के पथ पर चलते हुए भी प्राप्त की जा सकती हैं।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा